R.N.I. No. 2321/57

ओ३म्

रजि. सं. MTR नं. 004/2022-24

अक्टूबर 2024

अंक 9

तपोभूमि

मासिक

महर्षि वाल्मीकि

सम्पादकीय

सच्चा सुधारक

प्रायः समाज में देखने को मिलता है कि देश, समाज, परिवार और व्यक्ति की दशा सुधारने के लिए प्रत्येक व्यक्ति चिन्तित है और इस कार्य में लगा हुआ है। गली, चौराहों, चौपालों को लीजिये आप कहीं बैठ जाइये प्रायः करके लोग इस विषय की समालोचना करते मिलेंगे। समाज सुधार के लिए केवल चर्चा ही नहीं अपितु प्रयास भी बहुत किये जा रहे हैं। न जाने कितने सामाजिक संगठन, जातीय संगठन इस काम में तत्परता से लगे हैं। शासन, प्रशासन स्तर से भी कम प्रयास नहीं हो रहे हैं। धार्मिक क्षेत्रों में तो समाज सुधार के नाम पर ही लाखों की दुकानदारी चल रही है। शैक्षिण संस्थान का काम मात्र सुधार ही होता है। लेकिन आश्चर्य तब होता है इतने श्रम के बाद भी सुधार की जगह बिगाड़ ही अधिक दिखाई दे रहा है। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पतन का दौर विशेष देखा जाता है। न्यायालय जगह-2 स्थापित हैं पर न्याय नहीं मिल रहा है। चिकित्सालयों की बाढ़ आ गई है पर चिकित्सा नहीं मिल रही है। विद्यालय गली-गली में खुले हैं पर विद्या का अता-पता ही नहीं है। थाना और चौकियां सर्वत्र स्थापित हैं पर बदमाशी पराकाष्ठा पर है, अपराधियों की वजह से जेलें ठसाठस भरी हैं। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, चर्च वा अन्य सम्प्रदाय सुधार के नाम पर ही स्थापित हैं पर सुधार कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा है। इस परिस्थिति को देखते हुए आश्चर्य तो तब होता है जब प्रत्येक व्यक्ति चिन्ता व्यक्त करता है कि समाज बिगड़ रहा है तब प्रश्न होता है कि बिगाड़ कौन रहा है? इस प्रश्न पर यदि प्रत्येक व्यक्ति आत्म चिन्तन करने लगे तो उसे संसार सुधारने का सूत्र स्वयं हाथ लग जायेगा और उसे बोध हो जायेगा कि कहीं मैं स्वयं ही तो सारे बिगाड़ का मूल तो नहीं हूँ। जिस दिन उसके अन्दर यह चिन्तन आ गया समझ लो कि उसी दिन से उसमें सच्चे समाज सुधारक का तत्व जाग जायेगा। यही सुधारक का मुख्य गुण है जो आज कहीं भी दिखाई नहीं देता है। एटा के कवि बलदेव जी हुए हैं उन्होंने इस विषय में बहुत सुन्दर लिखा है कि-

संसार सुधार सकेंगे वही पहले अपना जो सुधार करें।
मन इन्द्रियन पै अधिकार नहीं शठ व्यर्थ सुधार का स्वांग भरें।
प्राचीन ऋषि मुनिराजन के पथ को पुख्ता करके पकरें।
कर्त्तव्य निजी कसके पकरें बलदवे तब ही बिगरे सुधरें।

यथार्थ में समझ में सर्व हितकारी वही लोग हैं जो अपने स्वार्थ को सर्व साधारण के हित पर न्यौछावर करके अपने तन और मन को दूसरे के तन और मन की रक्षा में लगा दें। अपनी जीवन-यात्रा को निष्ठापूर्वक शुद्ध भावों से पूर्ण करते हैं ऐसे लोगों की प्रशंसा करते हुए महाराज भर्तृहरि ने कहा है कि-

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्यये।

अर्थात् मनुष्य जाति में एक सच्चे पुरुष हैं जो दूसरे की भलाई तन मन और धन से बिना स्वार्थ के करते हैं। वे अपने स्वार्थ का थोड़ा भी ध्यान नहीं करते। उनका आत्मा अपनी प्रबल शक्ति से बड़े-बड़े विघ्नों को हटाता हुआ अपने उद्देश्य को प्राप्त हो जाता है। जैसा इन्हीं महात्मा भर्तृहरि ने अन्यत्र लिखा है कि-

-शेष पृष्ठ संख्या 35 पर

तपोभूमि

ओ३म् वयं जयेम (ऋक्0)

शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक कल्याण की साधिका

(आर्य जगत में सर्वाधिक लोकप्रिय मासिक)

वर्ष–70 | संवत्सर 2081 | अक्टूबर 2024 | अंक 9

*
संस्थापक
स्व0 आचार्य प्रेमभिक्षु

*
संपादक
आचार्य स्वदेश
मोबा. 9456811519

*
व्यवस्थापक
कन्हैयालाल आर्य
मोबा. 9759804182

*
अक्टूबर 2024

*
सृष्टि संवत्
1960853125

*
दयानन्दाब्द: 200

*
प्रकाशक
सत्य प्रकाशन, मथुरा

अनुक्रमणिका

लेख–कविता		पृष्ठ संख्या
वेदवाणी	–डॉ0 रामनाथ वेदालंकार	4–5
वेद चतुष्टय	–हरिदत्त शास्त्री	6–10
विष–चिकित्सा	–स्वामी ब्रह्ममुनि परिब्राजक	11–14
सत्य के अटल धागे का दर्शन	–श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	15–19
कर्म में नीति–अनीति का विचार	–आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री	20–22
ईश्वर की त्रिकालज्ञता	–महात्मा नारायण स्वामी	23–26
गुरुकुल महत्त्वशतकम्	–महेन्द्रकुमार शास्त्री	27–30
दे खुदा की राह पर	–ज्योति बाबू	31–34

❋❋❋

वार्षिक शुल्क 200/–   पन्द्रह वर्ष के लिये शुल्क 2100/–

वेदवाणी

लेखकः डॉ0 रामनाथ वेदालंकार

पंचौदन अज का कुम्भीपाक

ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिंचोदकमव धेह्येनम्।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः।। –अथर्व0 9/5/5

शब्दार्थः–

(ऋचा) ऋचा–पाठ के साथ (कुम्भीम्) हाँडी को (अग्नौ अधि) अग्नि के ऊपर (श्रयामि) रखता हूँ। उसमें (उदकम् आसिंच) जल सींच (एनम्) इस पंचौदन अज को (अवधेहि) डाल दे। इसे (शमितारः) हे पकानेवाला ! (अग्निना पर्याधत्त) अग्नि से पकाओ। (शृतः) पका हुआ यह (गच्छतु) जाये (यत्र सुकृतां लोकः) जहाँ सुकर्माओं का लोक है।

भावार्थः–

'अज' को पकाना है, पकाने के लिए हाँडी चाहिए। हाँडी चूल्हे की अग्नि के ऊपर रखी जायेगी, उसमें पानी पड़ेगा, आग–पानी में पकने के लिए अज को डाल दिया जायेगा। पाचक लोग कर्छी से उलट–पुलट करते हुए उसे पकायेंगे। पककर वह वहाँ पहुँच जायेगा, जहाँ सुकर्मकर्ता पुण्यशाली लोग जाते हैं।

यह एक पहेली है। कौन है यह अज ? जीवात्मा ही अज है, अतः उसका जन्म नहीं होता है–न जायते इति अजः। वह नित्य सत्तावाला है। शरीर में आये जीवात्मा को भी 'अज' कह देते हैं। वह 'पंचौदन' इस कारण है, क्योंकि उसके पाँच भोग्य विषय हैं–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, श्रवण। अज जब बालक होता है तब अपरिपक्व होता है, उसे पकाने के लिए पाठशाला–रूप हाँडी में डाला जाता है, बालक के पिता पाठशाला में उसका प्रवेश कराते हैं। पाठशाला में तपस्या, उग्र नियमपालन और कठोर अनुशासन का वातावरण उत्पन्न करना ही उस हाँडी को अग्नि पर रखना है। परन्तु यदि हाँडी में पानी नहीं डाला जायेगा, तो पंचौदन अज उसमें भस्म होकर राख बन जायेगा। इसलि पानी भी डालते हैं, अर्थात् प्यार एवं मधुरता का वातावरण भी पैदा करते हैं। 'शमितारः' हैं पाचक गुरुजन। वे अज बालक को अनुशासन और प्रेम के वातावरण में ज्ञानाग्नि से पकाते हैं। उसे सदाचार की शिक्षा भी देते हैं और शास्त्र पढ़ाकर विविध ज्ञान–विज्ञान भी प्रदान करते हैं। एक दिन में वह परिपक्व नहीं हो जाता, उसे 12, 24 या 48 वर्ष का ब्रह्मचर्य धारण करना होता है। गुरुजन उसे परिपक्व करने में तत्पर रहते हैं।

जब वह पूर्ण परिपक्व, अर्थात् व्रतनिष्ठ एवं विद्वान् हो जाता है, तब हाँडी से निकालकर उसका स्मावर्तन संस्कार किया जाता है। पाठशाला या गुरुकुल से निकलकर वह उस समाज में जाता है, जो सुकृतीजनों का लोक है। गृहस्थाश्रम भी 'सुकर्माओं का लोक' है, उसकी इच्छा होती है तो उसमें भी प्रवेश करता है। अन्यथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर समाज की सेवा करता है। गृहस्थ-रूप 'सुकृत-लोक' में जाता है, तो उसके बाद वानप्रस्थ रूप 'सुकृत-लोक' को और योग्य हो तो संन्यास-लोक को भी प्राप्त करता है। उसका पंचौदनत्व और अजत्व सदा ही रहता है, किन्तु अहर्निश विकसित होता चलता है। ❁

तपोभूमि मासिक के पाठकों से विनम्र निवेदन

तपोभूमि' मासिक पत्रिका प्रतिमाह आप तक पहुँच रही है। हमारा हर सम्भव प्रयास यही रहता है कि पत्रिका में उच्चकोटि के विद्वानों के सारगर्भित लेख प्रकाशित करके आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के सिद्धान्तों के अनुसार प्रचार करते हुये यह पत्रिका जन-जन तक पहुँचे। ताकि वे इसका पूर्णतया लाभ प्राप्त कर सकें। लेकिन यह तभी सम्भव है जब आप सबका सहयोग हमें मिले।

'तपोभूमि' मासिक के पाठकों से निवेदन है कि जिन्होंने अपना वार्षिक शुल्क चालू वर्ष या पिछले वर्ष का शुल्क अभी तक नहीं भेजा है। वे शीघ्रातिशीघ्र शुल्क भिजवाने की व्यवस्था करें। वार्षिक शुल्क 200/- दो सौ रुपये तथा पन्द्रह वर्ष हेतु 2100/- दो हजार एक सौ रुपये भेजकर पत्रिका पढ़ने का लाभ उठायें।

हम आपको प्रति माह पत्रिका पहुँचाते रहेंगे। आपके सहयोग व हमारे परिश्रम से निरन्तरता बनी रहेगी और महर्षि दयानन्द सरस्वती जी व आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार जन-जन तक भी होता रहेगा।

हमें अपने ग्राहक महानुभावों से यही अपेक्षा है कि बिना विघ्न कार्य सुचारू रूप से चलता रहे। साथ ही यह भी प्रार्थना है कि आप अपने परिश्रम से नवीन ग्राहक बनवाने का सौभाग्य प्राप्त करें।

-धनराशि भेजने हेतु बैंक का नाम व पता एवं खाता संख्या-

इण्डियन ओवरसीज बैंक

शाखा युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, जयसिंहपुरा, मथुरा

I F S C Code- IOBA 0001441

'सत्य प्रकाशन' खाता संख्या- 144101000002341

दान देने हेतु- श्री विरजानन्द ट्रस्ट' खाता संख्या- 144101000000351

सत्साहित्य का प्रचार-प्रसार करना ही राष्ट्र की सर्वोत्तम सेवा है।

गतांक से आगे–

वेद चतुष्टय

लेखक: हरिदत्त शास्त्री, सिरसागंज, जिला–फिरोजाबाद (उ० प्र०)

1. ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के लिए मुख्यत: दो स्थानों का निर्धारण मन्त्र में दर्शाया गया है। 1. प्रथम पर्वतों के कन्दराओं में–नगरों और ग्रामों की चहल–पहल, वहाँ के भोगवादी तथा व्यापार आदि के स्वार्थ पूर्ण तामस् और राजस् वातावरण से दूर–एकदम शान्त तथा सौम्य वातावरण तथा शुद्ध सुगन्धित वायु से परिपूरित स्थलों पर जहाँ स्वाभाविक प्राकृतिक दृश्य विद्यमान हों।

2. दूसरी ओर दो नदियों के मिलने के स्थल–संगम जहाँ दूर तक या तो जल राशि की दृश्यमान हो अथवा फिर जल की न्यूनता की स्थिति में चाँदी के समान चमकती हुई वालू की श्वेत चादर और दोनों किनारों पर लहलहाते खेतों तथा वृक्षों की हरियाली उस अदृश्य शक्ति की महत्ता का परिचय दे रही हो।

पर्वतों की कन्दराओं और नदियों के संगमों इन दोनों ही स्थानों पर जो प्राकृतिक दृश्य दृष्टिगोचर होता है– वह किसी अदृष्ट महाशक्ति का परिचायक होता है तथा मानव के कम से कम पदार्पण के कारण और मानवी बुद्धि के राजसी चमत्कारों तथा उनके तामसी परिणामों से सुरक्षित होने से–मानसिक वृत्तियों पर ही सब कुछ निर्भर है, मानसिक वृत्तियों का ही सब झंझट है। मानसिक वृत्तियाँ यदि इधर–उधर न भागें–यदि मानसिक वृत्तियों का निरोध हो जाय तो योग सिद्ध हो जाता है। मानसिक निरोध सिद्धियों में देरी नहीं होती। मन के निरोध से–**''योगश्चित्तवृत्ति निरोध''** चित्त की वृत्तियों का निरूद्ध होना योग है। यद्यपि सर्वथा तो चित्त की वृत्तियाँ निरूद्ध नहीं हो सकतीं। कहीं न कहीं तो चित्त जायेंगी ही। निरोध से अभिप्राय है सांसारिक विषयों में भटकने से, सांसारिक विषयों में दौड़े–दौड़े जाने से रोक लेना। सांसारिक विषयों से वृत्तियाँ ठहर जाये तो फिर एक ही ठौर, एक स्थान पर मन रह जाता है, परमात्मा में मन ठहर जाता है। उस प्रभु की सत्ता, उस प्रभु के स्वरूप में जब वृत्तियाँ स्थिर हो जाएँ, केवल मात्र उन्हीं की छवि निहारने की वृत्ति शेष रह जाय। परन्तु क्या यह सब आप ही आप–स्वयमेव–सम्भव है, नहीं, कदापि नहीं। इसके लिए तो बुद्धि को उस सात्विकता में ही स्थिर करना होगा। जिस परम शक्ति के द्वारा यह सब कुछ सृजा गया है। बुद्धि को उसी के ध्यान में लगाना होगा। नित्य निरन्तर बुद्धि का उपयोग उसी से, उस परमशक्ति महात्मा से ही युक्त होने के लिये किया जाएगा तब कहीं विप्रत्व की, सात्विकता, परम सात्विकता की उत्पत्ति होगी।

(21)

ओउम्–सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपोब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नोभूतस्य भव्यस्य पत्न्युरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।

–अथर्ववेद 12 काण्डम 1 अनुवाक् 1 सूक्त। मन्त्र1

ऋषिः– अथर्वा। देवताः–भूमि। छन्द–त्रिष्टुप्। स्वरः–धैवतः।

अंगिरा ऋषि द्वारा अथर्ववेद का प्रकाशन– राज्य संचालित करने के गुण– पृथिवी को धारण करने की शक्ति।

भावार्थ– 1. सत्य 2. बृहद् 3. ऋत् 4. उग्र 5. दीक्षा 6. तप 7. ब्रह्म 8. यज्ञ। यह सब पृथिवी को धारण करते हैं। इन गुणों से धारण की हुई पृथिवी अतीत, भविष्य की रक्षा करने वाली बनकर लोक को विशाल बनाती है। सत्य से पृथिवी टिकी हुई है। ऋत् से सूर्य प्रतिष्ठित है। जिस राष्ट्र में सत्य, वृहद्–विशालता, महत्वाकांक्षा, ऋत स्वाभाविक नियम, यथार्थता–उग्र–तेजस्विता, दीक्षा, नियन्त्रण और अनुशासन में रहना कष्ट सहिष्णुता, सदाचार और ईश्वर विश्वास तथा यज्ञ, परस्पर सहायता, सामंजस्य विद्वानों का सत्कार, दान–यह सब गुण होते हैं, वह राष्ट्र पृथिवी के राज्य को धारण कर सकता है। जिसका भूत, भविष्य ठीक है, उसका वर्तमान ठीक है। वर्तमान ही भूत, भविष्यत् है। वर्तमान यदि बन गया तो भूत–भविष्यत् बना–बनाया है।

राष्ट्र में राज्य धारण के लिए जो गुण होने चाहिए वह वेद ने संक्षेप में बता दिये हैं। प्रत्येक राष्ट्र के लिए ये गुण एक समान हैं। हम भी अब स्वतन्त्र हैं। इतने बड़े देश का शासन अचल हो सकता है। सत्य से विश्वास और मान हो सकता है, परन्तु सत्य निरा आदर्शहीन हो, किन्तु यतार्थ और लोक–स्थिति के अनुसार, सृष्टि नियमों के साथ मेल अर्थात् संगति रखता हो।

बृहद्– महत्वकांक्षा के बिना राष्ट्र उन्नत, वैभवशाली एवं विजयी नहीं हो सकता। उग्र–तेजस्वी हुए बिना आततायी दब नहीं सकते। देश की–वहाँ राजाओं, नेताओं तथा शासक वर्ग को तेजस्वी और उग्र भी अवश्य होना चाहिए। परन्तु उग्रता अनुशासन के साथ हो, जैसा कि सेना में होता है। साथ ही कष्ट सहने की शक्ति के बिना भी देश पराधीन हो जाते हैं। विलासी जातियाँ सहज ही जीत ली जाती है। ईश्वर–भक्ति और विश्वास के बिना सदाचार दृण नहीं रहता तथा अभिमान और अत्याचार भी बढ़ जाता है। यज्ञ परस्पर सहकारिता दान, देश के लिए स्वार्थ का त्याग, विद्वानों का सत्कार यह सब देशोन्नति के लिए आवश्यक ही हैं। हमारे देश वासियों को अपने राष्ट्र के मंगल के लिए, इन गुणों का आधान राष्ट्र में और उसके निवासियों में करना चाहिए।

(22)

ओ3म्–कृतं मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासं अश्वजिद्, धनंजयो हिरण्यजित्॥

–अथर्ववेद काण्ड 7वां सूक्त 50वां मन्त्र 18

ऋषि–अंगिरा (कितववधकाम)। देवताः–इन्द्र। छन्द–अनुष्टुप्। स्वरः–धैवतः।

अंगिरा ऋषि द्वारा अथर्ववेद का प्रकाशन–दाएं हाथ में पुरुषार्थ एवं बाएं हाथ में विजय का वर्णन किया गया है।

भावार्थ– पुरुषार्थ मेरे दाएँ हाथ में है और बांये हाथ में विजय है। गौओं का, घोड़ों का, सुवर्ण का और धन का मैं विजेता हो जाऊँ। हे प्रभो ! हम कर्म करें, विजयी बनें। हे प्रभो ! आपने हमें विद्या का अनुदान दिया है। आप ने हमें दो हाथ दिए हैं। दाँए हाथ से हम सौ गुना कमायें और बाएँ हाथ से हम सहस्र गुना दान करें। आपका आदेश यही है कि हम बुद्धिपूर्वक अर्थात् ज्ञान से अपने हाथों का उपयोग करें अर्थात् कर्मशील बनें।

हे दयामय विभो ! हम ज्ञान और कर्म के मार्ग से विमुख न हों। केवल भोगवाद में जब हम पड़ जाते हैं, जब हम अपनी विशेषता खोने लगते हैं। आप की भक्ति के स्थान पर अन्ध श्रद्धा और अन्ध विश्वास से हम तरना चाहते हैं। परन्तु आप की महती कृपा इसी में है कि हमें कर्म करने की स्वतन्त्रता दीजिए। जिससे हम आपकी दी हुई बुद्धि का सदुपयोग उत्तम कर्म करने में ही लगा सकें।

हे भगवन् ! भिक्षुक बनकर मैं तेरे द्वार पर आया हूँ, तुम दाता हो, मेरा भिक्षापात्र भर दोगे आप। कहते हैं तेरे द्वार से कोई खाली हाथ नहीं जाता। **"माँगो तो मिलेगा, खटखटाओगे तो द्वार खुलेगा।"** जो माँगूगा सो– सो मिलेगा, दाताओं के दाता के पास से भला कौन खाली हाथ जावेगा। माँगना तो बहुत है, पर क्या–क्या माँगू ? मुझे विश्वास है, जब तुम सबकी इच्छाओं को पूर्ण करते हो तो मैं भला कैसे खाली हाथ जाऊँगा। आप मेरी इच्छाओं–अभिलाषाओं को अवश्य पूर्ण करेंगे। ईश्वर ने आकाशवाणी से कान में कह दिया। मैंने सब कुछ दे रखा है, तुम्हारे पास सब होने पर माँगने आये हो। जाओ लौट जाओ, मैंने तुम्हें बुद्धि दे रखी है। हाथ दे रखे हैं। बस जिस वस्तु की आकांक्षा हो, इन सबके समन्वय से प्राप्त करो। जग के भण्डार तुम्हें दे रखे हैं, चाबी भी दे रखी है। चाबी लगाओ और पाओ, यही मेरी दया है, यही मेरा दातापन है। समझ गया, सम्पत्तियों का स्वामी तुमने मुझे बना दिया है। अब ज्ञान–कर्म द्वारा उसकी खोज करके ही छोड़ूँगा। यही तेरी महिमा है।

(23)

ओ3म् शतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह।।

–अथर्ववेद काण्ड 3 सूक्त 24वाँ मन्त्र 5

ऋषिः–भृगु। देवताः–वनस्पति, प्रजापतिः। छन्द–अनुष्टुप्। स्वरः–धैवतः।

अंगिरा ऋषि द्वारा अथर्ववेद का प्रकाशन– सौ हाथों से कमा, हजारों हाथों से दान करने का निर्देश दिया गया है।

भावार्थ– सौ हाथों वाले मनुष्य श्रेष्ठ धन को इकट्ठा करके ले आओ और हजारों हाथों वाला बनकर, उसका विस्तार करके, दान कर और किये हुए कार्य की समाज में हजारों रूप में वृद्धि कर। जिस

कार्य को सामान्य सौ व्यक्ति मिलकर कार्य करते हैं, हे मानव तू अकेला सौ हाथों वाला होकर, धन प्राप्त कर और हजारों हाथों वाला होकर, उसका दान कर। ऐसा करके अधिक से अधिक समृद्धि वाला बन जा। धनार्जन की मंगल वर्षा के छींटे अधिक सुख प्रदान करेंगी।

वेद का कथन उत्प्रेक्षा अलंकार रूप में है, ऊँची दृष्टि है। यह उत्प्रेक्षा खुलेगी, ऋषि और देवता से तथा वाक्यों की योग्यता से। मन्त्र का ऋषि 'भृगु' है और देवता तेज स्वरूप वनस्पति है। **'फलैर्वनस्पतिः'** फलवान् वृक्ष वनस्पति कहलाता है। वृक्ष शतशः जड़ के तन्तुओं से भूमि से आहार लेता है और सहस्र शाखा भागों से फल प्रदान करता है। यह मनुष्य के सामने एक आदर्श है। जो प्रत्येक क्षेत्र में लग जाता है। तुम एक गुरू से पड़े हो, तो तुम दस शिष्य तैयार कर दो। मनुष्य तुम ऐसा बनो। एक पुस्तक पढ़ी है, दस पुस्तक पढ़ने के योग्य बन जाओ। तुमने एक गुण प्राप्त किया है तो दस गुणित करके दूसरों को प्रदान कर दो। किसी से एक शक्ति प्राप्त की है, उससे दस गुना शक्ति दूसरों को दे दो। धन के सम्बन्ध में किसी एक ने 100 रुपये की सहायता ली है, तो तू हजार गुना सहायता देने के योग्य बन जा। अकेले ने 100 मनुष्यों के सहयोग से 100 गुना धन कमाया है, तू हजारों से कार्य कराकर, सहयोग कर। मन्त्र की दूसरी पंक्ति में – **''कृतस्य कार्यस्य चेह''** तेरा कर्तव्य है कि, भविष्य में ऐसा करना। अपनी जीवन की कला से वृद्धि को बड़ा दे। जड़ की सौ तन्तु भागों से आहार लेता है, भविष्य में तू– सहस्र शाखा भागों से फल प्रदान कर। मन्त्र का रहस्य– ऋषि, देवता और कृत कार्य की अपेक्षता के आधार पर है।

(24)

ओउम् ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्दोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्।।

–अथर्ववेद काण्ड 11 सूक्त 5 मन्त्र 19

ऋषिः– ब्रह्माः। ब्रह्मचारी। छन्द–अनुष्टुप्। स्वरः ऋषभ।

अंगिरा ऋषि द्वारा अथर्ववेद का प्रकाशन। ब्रह्मचर्य रूप से सब देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की। ब्रह्मचर्य ही देवों को तेज देता है।

भावार्थ– ब्रह्मचर्य का पालन करने के कारण ही सब देव अमर बने हैं। ब्रह्मचर्य से ही देवराज इन्द्र सब को तेज प्रदान करता है। विश्व ब्रह्मचर्य से युक्त हो। ब्रह्मचर्य से सब अंग पुष्ट होते हैं। ब्रह्मचर्य के द्वारा स्वास्थ्य ठीक रहता है।

ब्रह्म राष्ट्र का अर्थ है वीर्य। चर्य का अर्थ है– चर्वण करना, भक्षण करना, चब जाना, खा लेना, भाव हुआ– वीर्य को पचा जाना। वीर्य का परिपाक करके उसे ओज से परिवर्तन कर लेना, उसका व्यय न करना, उसे क्षणिक वासना जन्य सुख के लिए नष्ट न करना। ब्रह्मचर्य से देह–हृष्ट–पुष्ट और बलवान बनेगी। स्वास्थ्य ठीक होगा तो श्वांस–प्रश्वांस की क्रिया भी ठीक रहेगी। श्वांस–प्रश्वांस की क्रिया ठीक

होने से श्वांस प्रत्येक क्षण सही मात्रा में ही व्यय होंगे। श्वांसों के सही मात्रा में व्यय होने से पूर्ण आयु प्राप्त की जा सकती है।

"ब्रह्मचर्येण तपसा"– ब्रह्मचर्य बढ़े प्रयत्न से, बढ़े पुरुषार्थ से, बढ़े कठोर संयम से, बढ़े तप से सम्भव है। बड़े–बड़े मनस्वियों के समय आने पर वासना में बहते देखा जाता है। ब्रह्मचर्य को तप कहा गया है।

"देवाः मृत्युम्–अप–अघ्नत" देवजन मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। मृत्यु पर विजय का अर्थ है–क्या कभी मृत्यु आयेगी नहीं। मृत्यु तो अवश्य आयेगी–किन्तु समय से पहले नहीं आयेगी। ब्रह्मचर्य का तप, ब्रह्मचर्य धारण करने का पुरुषार्थ अधिक कठोर रहा, संयमित तथा कठोर नियन्त्रित जीवन रहा तो सौ से अधिक वर्ष जीवन रह सकता है। मृत्यु को मार डालना, मृत्यु को जीतना तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेना कहा जाता है।

"ह इन्द्रः ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वः आभरत्:" निश्चित रूप से परमात्मा ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्वानों को मोक्ष प्राप्त कराता है। यहाँ एक प्रश्न है और वह यह है कि जब परमात्मा ब्रह्मचर्य से ही मोक्ष प्राप्त कराता है तो फिर **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** बिना ज्ञान के मोक्ष प्राप्त नहीं होता–इसका अर्थ है। बात यह भी ठीक है और वह भी ठीक है और जितनी यह ठीक है उतनी वह ठीक है। मोक्ष तो प्राप्त ब्रह्मचर्य से कराता है, किन्तु कराता है–विद्वानों को–मूर्खों को नहीं।

मन्त्र में शब्द है– **"देवेभ्यः"** देवों, विद्वानों को। किन्तु विद्वान् भी केवल अपनी विद्या के बल अपने ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। ज्ञान के द्वारा तो मोक्ष का मोक्षानन्द का लाभ लिया जा सकता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का तप परम आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य के तप का बहुत बड़ा लाभ है– वासना से बचाव, वासना से छुटकारा, विषय–वासनाओं से निवृत्ति। जब तब विषय वासनाओं की निवृत्ति न हो जाय। तब तक मोक्षानन्द की प्राप्ति का क्या अर्थ है विषय–वासनाओं का अर्थ है–भोग की प्रवृत्ति तथा भोग की प्रवृत्ति का अर्थ है बारम्बार जन्म धारण करना। जन्म धारण करने से मृत्यु को प्राप्त होना होता है। मृत्यु पर विजय प्राप्ति का जहाँ दीर्घ जीवन प्राप्त करना है वहाँ उसका यह अर्थ भी है कि बार–बार मृत्यु को न प्राप्त हों, अपितु, जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा प्राप्त हो जाय। तभी आनन्द 'स्वः' को प्राप्त हो सकता है। जन्म धारण करके तो सांसारिक, शारीरिक, इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त होता है। इन्द्रयजन्य सुख के साथ दुःख की सदा संभावना बनी रहती है। जहाँ दुःख की संभावना ही न हो। वह तो केवल एक ही स्थिति है और वह है इन्द्रिय रहित, शरीर रहित अवस्था। इसी अवस्था में दुःखों का अत्यन्त, नितान्त अभाव होता है। इसी अवस्था की प्राप्ति मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है। इसी अवस्था का नाम है मोक्ष। स्वः–और यह भगवान उन्हें ही, उन्हीं विद्वानों को प्राप्त कराता है, जिन्होंने ब्रह्मचर्य का तप किया हो। ❁

गतांक से आगे–

विष–चिकित्सा

लेखक: स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

विष–जन्तुओं की मिश्रित विषचिकित्सा–

तिरश्चिराजे रसितात् पृदाकोः परि संभृतम्।
तत् कंकपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत्।। 1।।

अर्थ– (तिरचिराजेः) तिरछी धारीवाले सर्प से (असितात्) कृष्ण सर्प से (पृदाकोः) फुंकारने वाले सर्प से (कंकपर्वणः) क्रोंच पक्षी के समान जोड़ वाले–उछलने के स्वभाव वाले–उड़नेवाले सर्प से (तत् परिसंभृतं विषम्) दंशघाव में भरे, शरीर में फैले हुए उस विष को (इयं वीरुत्) आगे कही जाने वाली यह ओषधि (अनीनशत्) अत्यन्त नष्ट कर देती है।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः।
सा विहुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी।। 2।।

अर्थ– (इयम्) यह (मधुजाता) मधु–मधुरता या विषनाशक गुण से उत्पन्न (मधुश्चुत) मधुरता या विषनाशक गुण को चुबाती हुई (मधुला) मधुरता या विषनाशक गुण–विषरहितता लाने वाली (मधुः) मधुयष्टि–मुलहठी ओषधि अथवा 'मधुजाता, मधुश्चुत्, मधुला, मधु' नाम से प्रसिद्ध मुलहठी ओषधि (सा) वह (विहुतस्य) कुटिलगति वाले विषधर की (भेषजी) चिकित्सा करने वाली (अथो) और (मशकजम्भनी) मच्छर आदि को नष्ट करने वाली है।

सर्प काटने से जब विष शरीर में फैल जावे तो उसका प्रभाव दूर करने के लिए मन्त्र में 'मुलहठी' का उपयोग करना लिखा है–उसका चूर्ण लेना, स्वरस का मधुमिश्रित पान करना, छिड़कना आदि। मुलहठी के उक्त नाम और विषनाशक गुण मन्त्रानुसार देखिए निम्न आयुर्वैदिक निघण्टु वचनों में–

यष्टीमधु तथा यष्टी मधुकं क्लीतकं तथा।
अन्यत्क्लीतकं तत्तु भवेत्तोयमधुलिका।। (भावप्रकाश नि0)
मधुस्रवा मधुली मधुररसा।। (शालिग्राम नि0)
यष्टी हिमा गुरुः स्वाद्वी चक्षुष्या बलवर्णकृत्।
सुस्निग्धा शुक्रला केश्या स्वर्यो पित्तानिलास्रजित्।
व्रणशोथविषच्छर्दितृष्णाग्लानिक्षियापहा।। (भावप्रकाश नि0)

सुश्रुत और चरक के सर्पविषचिकित्सा-प्रकरण में दिए योग में मुलहठी द्वारा भी चिकित्सा लिखी है-

त्रिवृद्विशल्ये मधुकं हरिद्रे रक्ता नरेन्द्रो लवणश्च वर्गः।
मांसी हरेणुत्रिफलामुरगीरक्तालतोयष्टि पद्मकानि॥
लाक्षाहरेणुनलदं प्रियंगुः शिग्रुद्वयं यष्टिपुष्पिकाश्च।

-(सुश्रुत कल्प। अ0 5/60, 67, 72)

मंजिष्ठा मधुयष्ट्याह्वा जीवकर्षभकौ सिता।
काश्मर्य वटशुंगानि पानं मण्डलिनां विषे॥
सितां विगन्धिकां द्राक्षां पयस्यां मधुकं मधु।
पानं समन्त्रपूताम्बु प्रोक्षणं सान्त्वहर्षणम्॥

-(चरक विष चिकित्सा। अ0 23/114, 220)

ऐन्द्रजालिक "कामरत्न" ग्रन्थ में "वृश्चिक" के विष को दूर करने के लिए यष्टि अर्थात् मुलहठी की धूनी देने को लिखा है-"**घृतार्कदुग्ध लेपेन यष्ट्या वा धूपितेन वा**" (ऐन्द्र0 कामरत्न। वृश्चिकविष चिकि0/8))।

मन्त्र में दिए 'मधुजाता, मधुश्चुत, मधुला, मधुः' नामों की समानता मधुक अर्थात् महुवे से भी विशेष होती है, आयुर्वेदिक निघण्टु में इसके 'माधकः, मधुस्रवः, मधूलिका-मधुलः, मधुक' नाम दिये भी हैं, जो मन्त्र में क्रमशः नामों और अर्थों से मिलते हैं। पर आयुर्वेदिक निघण्टु में इसे विषनाशक नहीं बताया है। हां "चरक" के विष चिकित्सा-प्रकरण में इसका नाम तो एक योग में दिया है- "**सर्वेषु च बले द्वे तु मधूकं मधुकं नतम्**" (चरक। सर्पविष चि0/अ026, 186)। हो सकता है इसमें सर्पविषनाशक गुण हो। अथवा मन्त्र में दिए 'मधुजाता' मधु अर्थात् शहद से उत्पन्न मिश्री का नाम है, इसे मधुजाता, मधुजा, मधुशर्करा कहा भी है-"**माधवी सिता मधूत्पन्ना मधुजा मधुशर्करा। माक्षिकशर्करा चैषा क्षौद्रा क्षौद्रशर्करा। यद्गुणं यन्मधु प्रोक्त तद्गुणास्तस्य शर्कराः। विशेषाद् बलवृष्याश्च तर्पण्यः क्षीणदेहिनाम्**" (धन्वन्तरि नि0)। उक्त मधुजाता नाम की मधुशर्करा के 'मधश्चुत्, मधुला, मधुः' विशेषण हों अर्थात् वह मधुजाता नामक मधुशर्करा औषधि सर्पविष की व्याप्त दशा में शरीर के अन्दर मधु अर्थात् विषरहितरूप अमृत की चुबाने बहाने वाली, मधुरता लाने वाली स्वयं अमृत रूप है। मधु के अन्दर विषनाशक शक्ति है और 'सुश्रुत' चरक' आदि ग्रन्थों में सर्प काटने पर मधु पिलाने का विधान भी है-"**मधु...... विषश्वासकासशोषातिसारजित्**" (धन्वन्तरि नि0) कपिल-पीली बरटों के छात्रमधु के गुण विषनाशक विशेष हैं-"**भ्रमतृण्मोहविषहृत् तर्पणं च गुणधिकम्**" (भाव प्र0 नि0)। अथवा यहां मन्त्र में चार वस्तुओं का एक योग दिया है जिसमें 'मधुजा' से मधुशर्करा, 'मधुश्चुत्' से महुआ मधुस्रवा, से मुलहठी, 'मधुला' से कपिल द्राक्षा लेनी चाहिये। कपिल द्राक्षा का आयुर्वेदिक निघण्टु में 'मधुली' नाम

दिया हुआ है तथा इसके गुण मदमूर्च्छानाशक और हृदय को बल देने वाले–

अन्या कपिला द्राक्षा मृद्विका गोस्तनी च कपिलफला।
अमृरसा दीर्घफला मधुवल्ली मधुफली मधुली च।।
गोस्तनी मधुरा शीता हृद्या च मदहर्षणी।
दाहमूर्च्छाज्वरश्वासतृषाहृल्लासनाशिनी।। (राज निघण्टु)

द्राक्षा को सर्पविष में देने का विधान ''सुश्रुत'' ने किया भी है **''द्राक्षा सुगन्धा नगवृत्तिका च पिष्टा समंगा समभागयुक्ता। ..... निहन्ति .... विशेषतो मण्डलिनां विषाणि''** (सुश्रुत। कल्प0 अ0 5/75)। अस्तु। इस प्रकार यह मन्त्र बड़ा रहस्यपूर्ण है। यहां केवल मुलहठी, महुआ, मधुशर्करा या 'मुलहठी–महुआ–मधुशर्करा–मुनक्का' इन चारों को मिलाकर स्वरस, कषाय पिलाना, इनसे मार्जन–स्नान तथा चूर्ण खिलाना आदि सर्पकाटे विष के फैलने पर हितकर है।

यतो दष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि।
अर्भस्य तृपदंशिनो मशकस्यारसं विषम्।। 3।।

अर्थ– (यतो दष्टम्) शरीर के जिस स्थान से डस लिया–विषधारी प्राणी ने काट लिया (यतो धीतम्) जिस अंग से रक्त पिया (ते) तेरे (ततः) उस अंग में से (अर्भस्य तृप्रदंशिनः–मशकस्य–अरसं विषम्) तृप्ति के लिए–उदरपूर्ति के लिये काटने वाले अल्प प्राणी मच्छर के निर्बल विष की भांति (निर्ह्वयामसि) बाहर आकर्षित करते हैं–निकालते हैं।

सर्प काटे की चिकित्सा करने वाला वैद्य सर्पकाटे हुए रोगी को आश्वासन दे कि घबराने की कोई बात नहीं, मैं इस सर्पविष को दूर करने की चिकित्सा में अतिकुशल हूँ, तेरे उस स्थान से जहां कि सर्प ने काटा है, वहां से विष को निकाल देता हूँ। मेरे सामने सर्पविष कोई बड़ी वस्तु नहीं है, मैं तो मच्छर, वरट जैसे छोटे जन्तु के काटे निर्बल विष की भांति सर्प के विष को समझता हूँ और उसके समान आसानी से निकाल देता हूँ। अस्तु। यहां उपमा से एक बात और भी स्पष्ट होती है कि मच्छर, वरट आदि छोटे जन्तुओं के काटने पर उनका डंक या विष दबाकर बाहर खींच लेना चाहिये।

आयं यो वक्रो विपरुर्व्यंगो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः।। 4।।

अर्थ– (अयं यः) यह जो सर्प का काटा हुआ मनुष्य (वक्रः) टेढ़ा हुआ (विपरूः) व्यस्त जोड़ोंवाला हुआ (व्यंगः) अंगों का यथावत् विचार न करता हुआ अचेत–बेहोश हुआ (वक्रा) टेढ़े (वृजिना) वर्जनीव–विकृति–बुरी अवस्था के रूप में (मुखानि) मुख भागों–आंख, नाक, मुख आदि को (करोषि) करता है (तानि) उन अंगों को (ब्रह्मण्स्पते) हे भेषज के स्वामी–चिकित्सक (त्वम्) तू (इषीकाम्–इव सनमः) चिकित्सा–द्वारा इषीका की भांति–सीधा सरल यथावत् बना दे।

सर्प का विष जब शरीर में फैल जाता है तो इसके वेग शरीर की स्थिति में परिर्वतन कर देते हैं। वह सर्प द्वारा डसा हुआ टेढ़ा, ढीला, अचेत-बेहोश होकर आंख, नाक, मुख को बुरी तरह बदलता है। कुशल रोग चिकित्सक को चाहिये कि इन लक्षणों को-विष के इन वेगों को स्वाधीन करे एवं उन्हें शान्त करे और उठने न दे।

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम्।। 5।।

अर्थ– (अरसस्य) बलहीन-(नीचीनस्य) नीचगति वाले (उपसर्पतः) आक्रमण करते हुए-काटते हुए (शर्कोटस्य) शर्कोट-कर्कोट नामक सर्प के या शरों को कूटते हुए-से चलने वाले सर्प के या शर अर्थात् काण्टे को छेदने वाले डंकवाले बिच्छू आदि के (विषम्) विष को (हि) अवश्य (आदिषि) भलीभांति खण्डित करता हूँ या स्वाधिकार में लेता हूँ (अथो) पुनः (एनम्) इस उक्त सर्प को (अजीजभम) नष्ट करता हूँ।

शर्कोट कोई फुर्तीला सर्प होता है जो नीचे-नीचे चलता हुआ तुरन्त काटने को पास पहुंचता है उसकी चिकित्सा भी की जा सकती है।

न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम्।। 6।।

अर्थ– (ते बाह्वोः) हे विषधारी! तेरे बाहुओं में (बलं न-अस्ति) बल नहीं है-विष नहीं है (न शीर्षे) न शिर-में-न मुख में (उतत्र) तथा (न मध्यतः) न बीच में (अमुया पापया) उस पापवृत्ति से (अपि) पुनः (पुच्छे) पूंछ में (किम-अर्भकं विषं बिभर्षि) क्या अल्पविष-कुछ न करने वाला विष धारण करता है।

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरस विषम्।। 7।।

अर्थ– (पिपीलिकाः) चींटियां (त्वा) हे विषधारी सर्प आदि जन्तु। तुझे (अदन्ति) खाती हैं (मयूर्यः) मोरनियां (विवृश्चन्ति) बुरी तरह से नोंच खाती हैं (सर्वे) हे समस्त विषचिकित्साकजनों! तुम (भल ब्रवाथ) घोषणारूप में बोलते हो कि (शार्कोटं विषम्-अरसा) शर्कोट-कर्कोट सर्प का अथवा काण्टे से छेदन वाले विषधारी का विष निर्बल है।

सांप, बिच्छू आदि विषधारी जन्तुओं को मोरनियां नोंच खाती हैं तथा चींटियां भी सांपों और बिच्छू, बरट, ततय्यों को चींटि काट खाते हैं, यह भी देखा जाता है। सर्पों को भी, जब उसके कहीं चोट आ जाती है, तब चींटियां उस चोट के स्थान घाव पर चिपटकर उसे काट खाती हैं। हां, छोटे-से सांप के बच्चे को भी चींटियां लिपटी हुई, तं करती हुई हमने देखा है। जबकि तीव्र विषधारी सर्प की भी मोरनियां और चींटियां इतनी दुर्गति करती हैं, तब शर्कोट-कर्कोट सर्प या डंकवाले विषजन्तु का विष उनके सामने कुछ अस्तित्व नहीं रखता। **-(शेष अगले अंक में)**

सत्य के अटल धागे का दर्शन

–लेखकः श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

"सब भूतों सब लोकों और सब दिशा विदिशाओं को जानकर, सत्य नियम के पहले प्रकाशक की उपासना करके ज्ञानी केवल आत्म–स्वरूप से परमात्मा में प्रविष्ट होते हैं॥ 11॥"

"द्युलोक से पृथ्वीलोक तक सब पदार्थों, सब लोकों और दिशा विदिशाओं को तथा आत्मप्रकाशक को जानकर, सत्य के व्यापक तंतु को अलग करके उसको जब जानता है, तब जीवात्मा पहले था वैसा होता है॥ 12॥"

यह आशय इन दो मंत्रों का है। इन दो मंत्रों में निम्न बातें कही हैं। (1) तृण से लेकर सूर्य तक सब सृष्टि के पदार्थों को जानना। (2) सूत्रात्मा को व्यापक और सृष्टि से अलग मानना और अनुभव करना। (3) आत्मा का परमात्मा के साथ योग करना। (4) और पूर्व अवस्था के सदृश अवस्था को प्राप्त करना। ये चार उपदेश इन दोनों मंत्रों में हैं। इनका क्रमशः विचार करना है।

(1) सब सृष्टि के पदार्थों को जानना

परीत्य भूतानि, परीत्य लोकान्, परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च॥ 11॥
परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा, परिलोकान्, परिदिशः, परिस्वः॥ 12॥

दो मंत्रों के ये दो प्रथम अर्थ हैं। प्रायः इनका आशय एकसा ही है। दूसरे मंत्रार्थ में "परि स्वः" यह शब्द अधिक है, "स्वः, स्वर, सु–वर" इनका अर्थ "स्व–प्रकाश, आत्म–तेज आत्म–बल है"। विश्व को जानना और आत्मशक्ति को जानना है। केवल विश्व को जानने से कार्य नहीं होगा तथा केवल आत्मशक्ति का विचार करने से भी कार्य नहीं होगा। दोनों को जानना चाहिए।

पदार्थ–विद्या से सब जगत् जाना जाता है, और आत्मविद्या से आत्मा जाना जाता है। पदार्थ विद्या को अविद्या और आत्मविद्या को विद्या कहते हैं। इन दोनों को जानना चाहिए। पदार्थ विद्या से सृष्टि के अटल नियमों का परिज्ञान होता है, और ये अटल नियम जहाँ से प्रेरित होते हैं, उस परमात्मा का ज्ञान आत्मविद्या से होता है।

इतनी विस्तृत सृष्टि को किस प्रकार जानना? ऐसी शंका यहाँ कोई कर सकता है। सृष्टि के तत्वों को जानने से सब सृष्टि जानी जा सकती है। जिस प्रकार थोड़े अग्नितत्व को जानने से सम्पूर्ण अग्नितत्व जाना जा सकता है, इसी प्रकार वायु, विद्युत् आदि अन्य पदार्थों के गुण धर्म जानने से सम्पूर्ण सृष्टि का बोध होता है क्योंकि तत्वों के नियम, गुण धर्म और विकास सर्वत्र एक जैसे ही हैं।

इस प्रकार सृष्टि का परिज्ञान होते ही सूत्र आत्मा का अलग अस्तित्व प्रतीत होने लगता है।

(2) व्यापक सूत्रात्मा को सृष्टि से अलग मानना

यह आत्मविद्या के ज्ञान से साध्य होता है। प्रकृति और आत्मा परस्पर भिन्न हैं, ऐसा निश्चित ज्ञान होना चाहिए।

उपस्थाय प्रथम–जां ऋतस्य।। 11।।

ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य।। 12।।

उक्त दों मंत्रों के ये तृतीय चरण प्रायः एकहि भाव प्रदर्शित करते हैं। "ऋत अर्थात् अटल नियमों के प्रथम प्रवर्तक के सन्मुख होना" पहले का आशय है, और "ऋत अर्थात् सत्य के व्यापक सूत्र–आत्मा–को अलग करके" देखना दूसरे का आशय है। इसी तंतु के विषय में ऋग्वेद में कहा है–

विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य।
कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः।। –(ऋ0 10/5/3)

"(चरतः ध्रुवस्य) जंगम और स्थावर (विश्वस्य नाभिं) विश्व के मध्य में रहने वाले (तन्तुं) सूत्र को (कवेः चित् मनसा) कवि के मन से ही (वि–यन्तः) अलग करते हैं।"

स्थावर जंगम जगत् के बीच में व्यापक सूत्रात्मा को कवि की दिव्य दृष्टि से अलग देखना और अनुभव करना चाहिए। साधारण दृष्टि से इसका ज्ञान नहीं हो सकता। जो ज्ञान साधारण मनुष्य नहीं जान सकते उसको कवि अच्छी प्रकार जान सकते हैं। कवि की दृष्टि उच्च और दिव्य होने से दूर तक पहुंचती है। तंतु के विषय में अथर्ववेद कहता है–

रोहितो द्यावा पृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।।
तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावा पृथिवी बलेन।।

– अथर्ववेद 13/1/6॥

"(रोहितः) तेजस्वी परमात्मा ने द्युलोक और पृथिवीलोक बनाये और (तत्र) उनके बीच में (परमेष्ठी) परमात्मा ने (तंतु) एक धागे को (ततान) फैलाया है। और (बलेन) शक्ति से द्युलोक और पृथिवी को (अ दृंहत) बलवान् किया है (तत्र) वहां (एक–पात् अ–तः) एक अंशरूप अज अर्थात् जीवात्मा (शिश्रिये) आश्रय लेता है।" तथा–

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः।।
तमाहुतमशीमहि।। अथर्व0 13/1/60।।

"जो यज्ञ अर्थात् सत्कर्म का साधन तंतु देवों में फैला है, (तं) उसके लिये (आहुतं) दान करने के पश्चात् (अशीमहि) हम सब मिलकर अन्न ग्रहण करते हैं।"

इस प्रकार **'विश्वव्यापक तंतु'** के विषय में वेदों में लिखा है, पूर्व मंत्र के स्पष्टीकरण में तन्तु के

विषय में आया हुआ मन्त्र भी यहां देखने योग्य है। इस सूत्रात्मा को जानना चाहिए। जैसा मोतियों के बीच में सब माला के आधार के लिये एक धागा होता है, उसी प्रकार सूर्य चन्द्रादि मोतियों के बीच में परमात्मा सूत्ररूप है। इस प्रकार व्यापक और आधारभूत परमात्मा की कल्पना यहां स्पष्ट की गई है। इस कल्पना को देखने के पश्चात् "**ऋतस्य प्रथम–जां**" शब्दों से व्यक्त होनेवाली कल्पना को विशेष रीति से देखना चाहिए–

असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥ –(ऋ0 10/5/7)

"(दक्षस्य) बल की (जन्मन्) उत्पत्ति के समय (अ–दितेः) अविनाशी मूल प्रकृति के (उप–स्थे) पास (परमे व्योमन्) परम विस्तृत आकाश में (सत् च) तीनों कालों में एक जैसा रहनेवाला अविकारी आत्मतत्व और (अ–सत् च) उस आत्मा से भिन्न पदार्थ थे। इस (पूर्वे आयुनि) प्रथम अवस्था में (ह) निश्चय से (नः) हम सबके अन्दर (ऋतस्य) सत्य की (प्रथम–जाः) पहला प्रवर्तक (अग्निः) तेजस्वी ईश्वर प्रकाशित हुआ और उसके साथ (वृषभः) बल और (धेनुः) पोषणशक्ति थी।"

'दक्षस्य जन्मन्' से तात्पर्य सृष्टि की उत्पत्ति से है। प्रलयकाल में प्रकृति, जीव, परमात्मा एक विशेष अवस्था में रहते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा के बल का संचार प्रथम प्रकृति में होता है। वही 'दक्ष का जन्म' है। इसी पूर्व युग में ऋत का पहला प्रवर्तक अग्नि प्रकाशित होता है। यही सृष्टिकर्ता ईश्वर है। इसके साथ वृषभ और धेनु होती है। वृष–भ वृष–ण आदि शब्द बल, वीर्य आदि भाव प्रदर्शित करते हैं, और धेनु शब्द पोषणशक्ति का द्योतक है। देखिये–

वृष–भ	धेनुः
वीर्य–दाता	दुग्ध–दात्री
जनम–त्व	मातृ–त्व
पुरुष–शक्ति	स्त्री–शक्ति
चैतन्य	प्रकृति

अर्थात् ये दो शब्द दो भावों को व्यक्त कर रहे हैं। इस विश्व में स्त्रीभाव और पुरुषभाव पशु पक्षियों और वृक्ष वनस्पतियाँ भी विद्यमान हैं। परमेश्वर ने जो अपनी शक्ति प्रथम प्रकृति में प्रकाशित की, उसी समय से स्त्री पुरुष शक्तियाँ जगत में कार्य करने लगी हैं, यह तात्पर्य उक्त मन्त्र में है। अस्तु। इस मंत्र में "ऋतस्य प्रथमजा" का वास्तव स्वरूप देखा जा सकता है। इसी विषय में निम्न मंत्र देखने योग्य है–

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनातितराणि मृत्युम्॥ अथर्व0 4/5/1॥

"(ऋतस्य प्रथमजाः प्रजापतिः) सत्य के प्रथम प्रवर्तक प्रजापति ने (तपसा) अपने तेज से (यं

ओदनं) जिस सृष्टिरूपी चावलों को (ब्रह्मणे) ज्ञान के लिये (अ-पचत्) पकाया। और (यः) जो (लोकानां विधृतिः) लोकों का विशेष धारण कर्ता और जो सबका मध्य् है। उसके (तेन ओदनेन) पकाये हुए सृष्टिरूपी चावलों से (मृत्युं अतितराणि) मृत्यु के पार होते हैं।''

इस मन्त्र में सृष्टि को मुक्ति का साधन बताते हुए कहा है, कि प्रजापति परमेश्वर ''ऋत का प्रथम प्रवर्तक'' है। इस मंत्र को देखने से ''ऋतस्य प्रथम-जा'' का सच्चा स्वरूप व्यक्ति होता है। और देखिए-

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य।

अस्याभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम।। -अथर्व0 6/122/1

(ऋतस्य प्रथमा विश्व-कर्मन्) सत्य के पहले प्रवर्तक विश्व के कारीगर को (विद्वान्) जानकर मैं यह अपना भाग अर्पण करता हूँ। जिससे हम सब (अछिन्नं तंतुं) अटूट धागे को पकड़ कर, (जरसः परस्तात्) बुढ़ापे से भी परे की आयु का अनुभव करते हुए (अनु) ज्ञानियों के पीछे पीछे रहते हुए (सं) एक होकर (तरेम) तरेंगे। पार होंगे।

यहाँ विश्व का कर्ता हि ऋतका पहला प्रवर्तक है ऐसा कहा है और देखिए-

त्वमस्याऽऽवपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।

यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य।। अथर्व0 12/1/61

''हे मातृभूमि ! तू (आ-वपनी) बीज बोने योग्य (अ-दितिः) अखंडित (जनानां काम-दुघा) लोकों की कामनाओं को पूर्ण करनेवाली और विस्तृत है। जो कुछ तेरे अन्दर (ऊनं) न्यून होता है उसको सत्य का पहला प्रवर्तक प्रजापति परमेश्वर (आ पूरयाति) पूर्ण करता है।''

इन मंत्रों को देखने से ''ऋतस्य प्रथमजा'' का अर्थ स्पष्ट होता है। देखिए-

अग्निर्ह नः प्रथम-जा ऋतस्य।	ऋ0 10। 5। 7।।
प्रथम-जा ऋतस्य प्रजा-पतिः।	अथर्व0 4। 35। 1।।
विश्व-कर्मन् प्रथम-जा ऋतस्य।	अथर्व0 6। 122। 1।।
प्रजापतिः प्रथम-जा ऋतस्य।	अथर्व0 12। 1। 61।।
उपस्थाय प्रथम-जामृतस्य।	यजु0 32। 11।।

इन मंत्रों को अन्वयरूप से निम्न प्रकार रखते हैं-

ऋतस्य प्रथम-जा अग्निः।

ऋतस्य प्रथम-जा प्रजा-पतिः।

ऋतस्य प्रथम-जा विश्व कर्मा।

अर्थात् ''अग्नि, प्रजापति, विश्वकर्मा'' शब्दों से जो परमेश्वर बोधित होता है, वह ही ''ऋतस्य प्रथमजा'' शब्दों से होता है। यहां जाते जाते यह भी एक बात सिद्ध हुई, कि अग्नि-प्रजापति-विश्वकर्मा

ये तीन देवता भिन्न नहीं, परन्तु एकहि अद्वितीय परमात्मा के तीन नाम हैं। ''ऋतस्य प्रथमजा'' का अर्थ भी यहाँ निश्चित हो गया। इस प्रकार सम्पूर्ण वेदों का भाव देखकर अर्थ का निश्चय करने से वैदिक शब्दों के अर्थों का निश्चित ज्ञान हो सकता है।

अस्तु अब बारहवें मंत्र का अन्तिम भाग रहता है। वह यह है–

(1) तदपश्चत्। (2) तदभवत्। (3) तदासीत्॥

इसका शब्दार्थ और भावार्थ पहले दिया हुआ यहां फिर देखना चाहिए। ''जब उस (तत्) परमेश्वर को (अपश्यत्) देखता है, तब वह (तत् अभवत्) वैसा बनता है, कि जैसा (तत् आसीत्) वह था।''

मुक्त अवस्था में जैसा पहले था, वैसा फिर होता है। परमेश्वर का साक्षात्कार करने का यह परिणाम है। (1) मुक्ति प्राप्त करना और (2) मुक्ति से वापस लौटना, ये दोनों भाव यहां ध्वनित होते हैं। 'जैसा था वैसा होता है। (तत् आसीत् तद् अभवत्) इससे ध्वनित होता है, कि जीवात्मा यहां आने से पूर्व मुक्त अवस्था में था। अब फिर वैसा बना है। अर्थात् यदि फिर लौट आयगा, तो फिर भी वैसा ही बनेगा। इसमें कोई डरने की बात नहीं; यह एक पौरुष–सातत्य की उच्च कल्पना है। अस्तु।

पाठकों से विनम्र निवेदन

'तपोभूमि' मासिक पत्रिका के पाठकों से विनम्र निवेदन है कि वर्ष **2023 तथा 2024** का वार्षिक शुल्क अविलम्ब **'सत्य प्रकाशन'** वेदमन्दिर, वृन्दावन मार्ग, मथुरा के कार्यालय को जमा करायें। आशा और विश्वास है कि पाठकगण अविलम्ब शुल्क भेजकर अपनी पत्रिका समयानुसार प्राप्त करते रहेंगे। जो महानुभाव ऑन लाइन द्वारा शुल्क जमा करते हैं वे फोन द्वारा कार्यालय को सूचित अवश्य करें ताकि उनका शुल्क जमा किया जा सके। **–व्यवस्थापक**

जनता की बेहद मांग पर छपवाई गई पुस्तकें

स्वाधीनता की वीरांगनायें	40.00	रामायण कालीन आदर्श नारियां	15.00
वीर नारियां	30.00	महाभारत कालीन आदर्श नारियां	15.00
वीर बालिकायें	30.00	देश विदेश की वीर बालिकाएं	10.00
आदर्श देवियां	30.00	पतिव्रता नारियां	10.00
वैदिक ऋषिकाएं एवं विदुषी नारियां	20.00	सती वीरांगनाएं	10.00
आदर्श सती नारियां	20.00	आदर्श माताएं	10.00

गतांक से आगे–

कर्म में नीति–अनीति का विचार

लेखकः– आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

इस आत्मसुख का विशेषता ज्ञात हो जाने पर यह ही मानना ठीक है कि नीति निर्णय में भी यही दृष्टिकोण रखा जावे और केवल आधिभौतिक सुख को उसका मापदण्ड न माना जावे। सर्वभूत–हित, अधिकांश लोगों का अधि [illegible] सुख और मनुष्यत्व का परम उत्कर्ष इत्यादि नीतिनिर्णय में सामान्य नियम हैं। जब तक आत्मप्रसादरूपी अत्यन्त सुख और उसी के साथ कर्ता की शुद्ध बुद्धि को ही आध्यात्मिक कसौटी जानकर इस का निर्णय न हो वह व्यापक और सर्वांगीण और विशुद्ध नहीं हो सकता। इसलिये आधिभौतिक–सुखवाद धर्म अधर्म के निर्धारण में समर्थ नहीं, अध्यात्मवाद की शरण लेना उसके लिये परमावश्यक वस्तु है। और इस आध्यात्मिक दृष्टि से ही नीति अनीति का समुचित निर्धारण हो सकता है। भारतीय इस अध्यात्मवाद पर ही अधिक बल देते थे और अब तो पाश्चात्य विद्वानों को भी यह नीतिनिर्णय में स्वीकार होने लगा है। महाशय ग्रीन, ने स्पष्टतया कार्याकार्यशास्त्र के विवेचन के लिये आध्यात्मिक दृष्टि को प्रशस्त माना है। महाशय काण्ट ने तो पहले ही इस प्रक्रिया को प्रबल समर्थन किया है और नीतिनिर्णय में इस पर अधिक बल दिया है। कोई दृश्य सृष्टि का कितना ही विचार करें परन्तु जब तक यह ठीक मालूम नहीं हो जाता कि इस सृष्टि का द्रष्टा और कर्म करने वाला कौन है तब तक तत्वतः इस बात का भी निर्णय नहीं हो सकता कि मनुष्य का परमसाध्य श्रेष्ठ कर्तव्य क्या है।

आधिभौतिक दृष्टि से नीतिमीमांसा का विवेचन कर उस की सारासारता का निराकरण किया गया। अब आगे दूसरी आधिदैविक दृष्टि का विचार किया जाता है। नीति और अनीति के परीक्षा करने की यह दूसरी प्रक्रिया अथवा पद्धति आधिदैवतपक्षवालों की है। इसके अनुसार यह माना जाता है कि जब कोई मनुष्य कार्य अकार्य का निर्णय किया करता है तब वह इस झगड़े में नहीं पड़ता किस कर्म से कितना सुख अथवा कितना दुःख होगा। न वह यही देखता है कि उसे आत्म अनात्म के पचड़े में पड़ने और माथापच्ची करने की जरूरत नहीं और यह भी बात है कि ये झगड़े बहुत से लोगों की समझ में भी नहीं आते। ऐसी अवस्था में यह कहना कि अपने ही सुख को दृष्टि में रख कर निर्णय किया जावे, यह तो अत्यन्त गर्हित और अधम बात होगी हां थोड़े से विचार करने पर यह झटिति अवभासित होने लगता है कि वास्तविक विचारणीय बात क्या है। धर्म–अधर्म का निर्णय करते समय मन की स्वाभाविक और उदात्त मनोवृत्तियां करुणा, दया, परोपकार आदि ही किसी कार्य को करने के लिये मनुष्य को अकस्मात् प्रवृत्त किया करती हैं। जब किसी दीन भिखारी का दर्शन होता है, तब बिना इस विचार के कि इससे अधिकांश लोगों का अधिक सुख होगा, अथवा नहीं, एवं अपना कितना अधिकतम स्वार्थ सिद्ध होगा,

या अपनी आत्मा इससे प्रसन्न होगी या नहीं, –हृदय में स्वभावतः दान करने की करुणावृत्ति जागृत हो जाती है और याचक को कुछ दे दिया जाता है। वास्तव में ये उदात्त मनोवृत्तियां ही कर्म–मीमांसा–विज्ञान की आधारशिला हैं। मनुष्य को ये वृत्तियां किसी ने दी नहीं अपितु ये निसर्गतसिद्ध स्वयम्–भू देवता हैं। जब कोई न्यायाधीश लोक में न्यायासन पर न्यायार्थ विराजमान होता है, तब उसकी बुद्धि में यह न्यायदेवता प्रेरणा कर दिया करता है और उसी प्रेरणा के अनुसार वह न्याय किया करता है, परन्तु यदि न्यायाधीश इस प्रेरणा का अनादर करता है तभी उससे अन्याय हुआ करते हैं। न्याय के समान ही करुणा, दया, परोपकार, कृतज्ञता, कर्तव्यप्रेम, धैर्य आदि सद्गुणों की जो स्वाभाविक मनोवृत्तियां हैं, वे भी देवता हैं। प्रत्येक मानव निसर्गतः इन देवताओं के स्वरूप से परिचित रहता है। परन्तु यदि लोभ, द्वेष, मत्सर आदि कारणों से वह इन देवताओं की परवाह न करे तो फिर ये देवता विचारे क्या करें। कभी–कभी ऐसी स्थिति होती है कि इन देवताओं में परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाता है और ऐसी अवस्था में कोई कार्य करते समय हमें इसकी विचिकित्सा उत्पन्न हो जाती है कि किस देवता की प्रेरणा को अधिक मानें। इस सन्देह के निर्णयार्थ न्याय, करुणा आदि देवताओं के अतिरिक्त किसी दूसरे का परामर्श लेना आवश्यक जान पड़ता है। ऐसी सन्देहापन्न स्थिति में यदि प्रत्येक मनुष्य अपने मनोदेव की साक्षी ले, तो वह बतला देगा कि दोनों में इनमें कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है। यही प्रधान कारण है कि सभी देवताओं में मनोदेवता श्रेष्ठ हैं। 'मनोदवता' के अन्दर इच्छा, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि का सन्निवेश नहीं करना चाहिए क्योंकि ये मनोविकार हैं। 'मनोदेवता' शब्द से मन की वह ईश्वरप्रदत्त–स्वाभाविक शक्ति ही अभीष्ट है जिससे कि भले बुरे का निर्णय किया जाता है। इसी शक्ति का एक ओजस्वी नाम–सदसद्विवेक–बुद्धि है। इसे ही अन्तःकरण कहा जाता है और यह पक्ष वास्तव में सभी आधिदैवतपक्षियों को मान्य है। ये यह घोषित करते हैं कि यदि किसी सन्देहग्रस्त अवसर पर मनुष्य स्वस्थ अन्तःकरण से और गम्भीरता के साथ विचार करे तो यह कभी भी उसको धोखा नहीं देगी, जब कोई महती विचिकित्सा का प्रश्न जा आता है तब हम यही कहते हैं कि "अपने अन्तःकरण से पूछो"। अपने समक्ष यदि यह अवस्था आ गयी तो हम कहते हैं कि अमुक कार्य के लिये मेरा अन्तःकरण कहता है, अमुक के लिये नहीं। लोक में भी जब किसी को यह सन्देह हो कि चोरी करना चाहिए या नहीं, तो सज्जन आदमी यही कहता है कि मेरा मन इसके करने के लिये प्रेरणा नहीं देता है। आपत्तिकाल में जहां कभी–कभी उत्तम से उत्तम नीतिसिद्धान्त के पालन में सन्देह हो जाता है वहां भी आपद्धर्म मानकर अमुक का पालन करना चाहिए यह निर्णय भी यह बुद्धि ही देती है। ऐसा इस पक्ष के लोगों का विचार है। कल्पना कीजिए कि कहीं पर महान् दुर्भिक्ष पड़ा है, खाद्य का अभाव है, लोग भूखों मर रहे हैं, उस अवस्था में किसी के सामने अहिंसा और आत्मरक्षा का विरोध उठ खड़ा होवे, भक्ष्य अभक्ष्य में अभक्ष्य भक्षण करना चाहिए अथवा नहीं–यह प्रश्न खड़ा होवे तो यह बुद्धि उसे निर्णय देगी कि हिंसा करके भी आत्मरक्षा करो और प्राण के रक्षार्थ अभक्ष्य का भी भक्षण करो। इसी प्रकार यदि कभी स्वार्थ और परार्थ का झगड़ा उपस्थित हो जावे तो उसकी भी औचिती अनौचिती का निर्णय यह देगी। ऐसा किस प्रकार सम्भव है कि यह सदसद्विवेकिनी बुद्धि अमुक कार्य भला और अमुक बुरा है–इस प्रकार समस्त भले बुरे कार्यों का वह निर्णय देखके, इस

प्रश्न के उठने पर किन्हीं प्रधान आधिदैवतपक्षियों का समाधान है कि इस देवता के पास कार्य-अकार्य, धर्म-अधर्म के कार्यों के बलाबल और प्रशस्तता अप्रशस्तता के विचार को दृष्टि में रखते हुए एक सूची विद्यमान है। महाशय जेम्स मार्टिनो ने अपने 'नीतिवाद के प्रकार' ग्रन्थ में इस सूची को निबद्ध किया है। इस सूची में नम्रतामय पूज्यभाव को प्रथम अर्थात् सर्वोपरि स्थान दिया गया है। उसके पश्चात् करुणा, कृतज्ञता, उदारता और वात्सल्य आदि भावों को क्रमशः नीचे की श्रेणियों में सम्मिलित किया गया है। जेम्स मार्टिनो का विचार है कि जब नीचे की श्रेणियों के सद्‌गुणों को ही अधिक मान देना चाहिए। कार्य-अकार्य धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये इसकी अपेक्षा और कोई मार्ग नहीं। अधिकांश लोगों का अधिक सुख जिसमें हो उसी को करना चाहिए-यह मानने पर भी तो यह प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है कि "हम ऐसा क्यों करें?" केवल दूरदर्शीस्वार्थ भी यह नहीं कह सकता कि तू ऐसा ही कर। इसलिये सद्सद्विवेकिनी-प्रज्ञा ही सारी बातों के निर्णय में समर्थ है-अन्य कोई नहीं। उपकार और दूरदर्शीस्वार्थ आदि की भावना भी तो आखिरकार मानवकृत ही हैं। वे अपना प्रभाव तो उस पर जमा नहीं सकतीं कि मानव उनके प्रभाव में आकर कार्य करे। इसलिये ऐसे समय पर आज्ञा करने वाला हमसे श्रेष्ठ कोई समर्थ अधिकारी अवश्य होना चाहिए और यह कार्य ईश्वर प्रदत्त सदसद्विवेकबुद्धि ही कर सकती है क्योंकि वह मनुष्य की अपेक्षा श्रेष्ठ है, अतएव मनुष्य पर अपना अधिकार जमाने में समर्थ है। यह बुद्धि स्वयम्भू देवता है। जब कोई मनुष्य कुछ अनुचित कार्य अथवा पाप कर बैठता है तब पश्चात्ताप करता है और स्वयं लज्जित होता है और उसका मन उसे सदा टोकता रहता है। यह सारा कार्य उपरिकथित देवता के शासन का ही फल है। जब तक अधिदैवत पक्ष के अनुसार यह पूर्वोक्तसिद्धान्त न स्वीकार कर लिया जावे तब तक इसका समाधान नहीं हो सकता कि हमारा मन हमें क्यों टोका करता है। यह कही गयी विचार धारा वास्तव में पश्चिम के आधिदैवत पक्षीय पण्डितों की है। ईसाई धर्मोपदेशकों ने विशेषरूप से इसका आश्रय लिया है। इन लोगों के विचार से धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये केवल आधिभौतिक साधनों की अपेक्षा यह ईश्वरप्रदत्त साधन सुलभ, श्रेष्ठ एवं ग्राह्य है। भारतीय धर्मग्रन्थों को, जिनमें कर्म अकर्म का विचार है परिशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि भारतीय लोग भी मन को कार्य-अकार्य के निर्णय में साधन मानते थे और परिस्थितिविशेष में अन्तःकरण की आवाज को प्रमाण भी मानते थे, इन्द्रियों और मन को देवता नाम से कहने की भी परिपाटी थी, परन्तु इस प्रकार का कोई वाद अथवा पन्थ नहीं था। आत्मा के प्रिय अर्थात् अन्तःकरण की पवित्र पुकार को मनु ने धर्म का एक लक्षण स्वीकार किया है। प्रसिद्ध कवि कालिदास की उक्ति भी सार्थक है कि सन्देह के उत्पन्न होने पर सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियां ही प्रमाणभूत होती हैं। विशुद्धमन अथवा सद्सद्विवेकबुद्धि को पूर्वीदार्शनिकों ने जो महत्व दिया है उसका स्वरूप पाश्चात्यों के शुद्ध मनोदेवता से भिन्न हैं। विशुद्ध अन्तःकरण की आवाज को मानते हुए पूर्वी पंडित यह आवश्यक समझते हैं कि उसके स्वरूप पर विचार होना चाहिए। धर्म-अधर्म के निर्णय में यह ही एक मानदण्ड नहीं हो सकता और साथ ही प्रत्येक के अन्तःकरण की प्रेरणा एक सी ही होती है, यह भी नहीं कहा जा सकता। ❁

ईश्वर की त्रिकालज्ञता

लेखक:– महात्मा नारायण स्वामी

क्या ईश्वर की त्रिकालज्ञता मनुष्य के परतन्त्रता का, कारण है? –

परतंत्रता के कथित अनेक कारणों में से एक कारण ईश्वर की त्रिकालज्ञता भी, प्रकट की जाती है। कहा यह जाता है कि ईश्वर, सर्वज्ञ होने से, तीनों कालों की बातें जानता है और हम जो भविष्य में करने वाले हैं, वह सब भी, उसके ज्ञान में पहले से मौजूद है। जब हमारे, कर्म, करने से पूर्व ही से, ईश्वर जानता है कि हम क्या करेंगे और उसका ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता, तो फिर हम तो विवश हुये न, कि जैसा वह जानता है, वैसा ही करें, फिर इच्छा या कर्मस्वातंत्र्य कहां रहा? यह प्रश्न चिरकाल से, विद्वानों के विचार कोटि में रहा और अब भी है। हमारे विचार में, इसका जो कुछ समाधान है, उसको प्रकट करने से पहले, यत्न किया जावेगा कि समय-समय पर, विद्वानों के किये हुये विचारों का निष्कर्ष, पाठकों के सन्मुख, रख दिया जावे जिससे उन्हें, अपने लिये, कोई परिणाम निकालने में, सुगमता हो।

(1) **स्टोइक्स–** स्टोइक्स ने ईश्वर की सर्वज्ञता की रक्षा के धुन में इच्छास्वातंत्र्य को उड़ा ही दिया था।

(2) **लैम्बलीचस–** लैमबलीचस ने प्रकट किया कि जो बातें, अनिश्चित और संदिग्ध हैं ईश्वर उन्हें भी निश्चित रूप में जानता है क्योंकि वह त्रिकालज्ञ है।

(3) **सेन्ट आगस्टिन–** जो कुछ भविष्य में होने वाला है ईश्वर को उसका ज्ञान पहले से किस प्रकार हो सकता है? आगस्टिन, योग के आचार्य पतंजलि का अनुकरण करते हुये कहता है कि ईश्वर के लिये भूत और भविष्यकाल कुछ नहीं, उसका एक ही वर्तमान काल है। ''कदापि नहीं'', ''पहले'' ''उस समय'' इन शब्दों का ईश्वर के दिव्य जीवन में कोई महत्व नहीं है। ईश्वर दोनों (भूत-वर्तमान) को एक साथ देखता है जो अपने-अपने समय पर प्रकट होती रहती हैं। कोई अनिश्चित काम संसार में नहीं हुआ करता क्योंकि ईश्वर उन्हें पहले से देख लेता है और ईश्वर इसलिये उन्हें देख लेता है कि वे होने वाले होते हैं।

(4) **एक्यूनस–** ईश्वर की त्रिकालज्ञता से सम्बन्धित सेंट आगस्टिन के विचारों का संशोधन करता हुआ एक्यूनस अपनी सम्मति इस प्रकार देता है– ''ईश्वर जो कुछ जानता है वह अवश्यम्भावी है और जो कुछ हम जानते हैं वह भी अवश्य होना है। परन्तु ईश्वर का ज्ञान हमारे ज्ञान की अपेक्षा अधिक निश्चित है। ऐसा होने पर भी कोई बात जो अचानक हो जाया करती है उसके लिये पहले से यह नहीं कह सकते कि अवश्य होगी। इसलिये ऐसी बातें ईश्वर के ज्ञान में भी नहीं होतीं।'' एक्यूनस फिर कहता है कि–''वह (ईश्वर) नित्य और उसका नित्यत्व भी नित्य है जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि

वर्तमान कालीन सभी वस्तुयें और घटनायें चाहे वे नियमानुकूल हुई या अचानक घटित हो गईं ईश्वर को उसका ज्ञान है। इसके साथ ही भविष्य की उन बातों का भी उसे ज्ञान है जिनके तात्कालिक कारण अपना काम पूरा कर चुके हैं और ईश्वर के ज्ञान में हैं।

ईश्वर इच्छा करता है और पहले से हमारे समस्त कृत्यों को जान लेता है और स्वाभाविक रीति से, पूर्व से हमें प्रेरणा हो जाती है। इस प्रकार हमारे कृत्य ईश्वर केद्वारा पूर्व से निश्चित हो जाते हैं, परन्तु साथ ही यह भी निश्चिय हो जाता है कि उन्हें हम स्वतंत्रता के साथ एक खास ढंग से करेंगे।''

(5) डंस स्कौटस– ''ईश्वर के विचार में ऐसी बातें नहीं रहा करतीं जिन्हें भाग्य की तरह किये जाने के लिये मनुष्य बाधित किये जा सकें।''

(6) वोसूट– ''हमारे स्वतंत्रता से किये कर्मों को वह (ईश्वर) पहले से नहीं जानता और इन कार्यों को जब हम करेंगे तब भी वह उन्हें नहीं देखेगा।''

मनुष्य का इच्छा–स्वातंत्र्य भी बना रहे और ईश्वर की त्रिकालज्ञता में भी भेद न आवे, इसके लिये वोसूट ने चार सूरत पेश की हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

पहली सूरत– ''जो काम मनुष्य इरादे से करे उसे इच्छास्वातंत्र्यगत समझना चाहिये। वोसूट का अपना भाव जो उपर्युक्त कथन से था इस प्रकार स्पष्ट करता है–

पहला पाप (आदम के फल खाने रूप) करने से पहले, मनुष्य कर्म करने में पूरे स्वतंत्र थे, परन्तु जब उसने पहला पाप कर डाला। तब ईश्वर ने अपनी पूर्णता से सब कार्यों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जिससे वे हमारी इच्छा पर निर्भर रहे और अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता से इस प्रकार का हमको बना देता है जिससे हमारी इच्छा वही हो जिससे वह (ईश्वर) प्रसन्न हो।''

वोसूट के मत में इस प्रकार समझने से ईश्वर की त्रिकालज्ञता और हमारे अपने कर्मों के उत्तरदायित्व में कोई असंगति नहीं रह जाती परन्तु वह इस बात को भूल जाता है कि पहला पाप होने से पहले उस (ईश्वर) में त्रिकालज्ञता नहीं थी और उसके बाद मनुष्यों में स्वतंत्रता नहीं रही।

दूसरी सूरत– सोलहवीं सदी में जेसूट मौलिना ने एक निबन्ध में स्वतंत्रता का ईश्वर की त्रिकालज्ञता के साथ अविरोध प्रदर्शन करते हुये लिखा था कि ''ईश्वरीय ज्ञान के तीन उद्देश्य हैं– (1) संभवनीय घटनाओं का प्रकट करना (2) घटित घटनाओं का विवरण देना (3) सोपाधिक घटनाओं का खोलना। सं. 3 में वर्णित घटनाओं का स्थान सं. 1 और 2 के मध्य में है। मौलिना कहता है कि ईश्वर अनादिकाल से जानता है कि उसके उत्पन्न किये हुये प्राणी स्वतंत्रता से क्या करेंगे? ईश्वर के इस ज्ञान से मनुष्य की स्वतंत्रता में कोई बाधा नहीं पहुंचती। ईश्वर प्राणियों की इस बात को लक्ष्य में रखते हुये कि वे प्राप्त स्वतंत्रता से किस–किस समय क्या–क्या करेंगे, अपने आदेशों को मर्यादित किया करता है। वह प्रतीक्षा करता हुआ देखता है कि हमारी इच्छाओं का रुख किधर है और इसके जानने के बाद अपने आदेशों को हमारे निश्चयों के सम्बन्ध में निश्चित करता है।'' वोसूट उपर्युक्त उद्धरण देने के बाद उस

पर आक्षेप यह करता है कि इस वाद के रूप से ईश्वर के आदेश वस्तुओं के आदिकारण नहीं हो सकते। परन्तु बोसूट ने यह नहीं विचारा कि किस प्रकार स्वतंत्रता से किया हुआ कोई अचानक कर्म अनादिकाल से ईश्वर के ज्ञान में आ सकता है।

तीसरी सूरत– तीसरा समाधान यह है कि ईश्वर हमको विशेष कार्यों की ओर खींच लेता है– (क) विषयों की तरकीब और उन परिस्थितियों के द्वारा जिनमें उस (ईश्वर) ने हमको रक्खा है। (ख) उन विचारों के द्वारा जिन्हें उसने हमारे मस्तिष्कों में भर दिया है। (ग) उन आवेगों के द्वारा जिन्हें वह हमारे हृदयों में उत्पन्न करता रहता है। अस्तु। ऐसी कोई भी बात नहीं है जिसे वह (ईश्वर) अपने मंसूबों के द्वारा करने में अपनी सर्वशक्तिमत्ता से काम में न ला सकता हो। इसलिये यदि वह चाहे कि हमारी इच्छाशक्ति पर अधिकार प्राप्त करले और साथ ही हमें स्वतंत्र भी रक्खे तो ये दोनों काम एक साथ करने में वह समर्थ है।

चौथी सूरत– इसे थौमिस्ट लोगों ने उपस्थित किया था जिसे ''पूर्वानिश्चयवाद'' कहते हैं। वाद का रूप यह है कि ईश्वर हमारे मस्तिष्क पर तत्काल इस प्रकार का काम करता है जिससे हम कोई काम विशेष (ईश्वरेच्छित) रीति से करना स्थिर कर लेते हैं, परन्तु वह हमारा स्थिरीकरण स्वतंत्रता पूर्ण ही रहता है।

(7) जेम्स वार्ड– जेम्स वार्ड कहता है कि आस्तिकवाद के प्रकाश में त्रिकालज्ञता के सम्बन्ध में जो तर्क सिद्ध विचार है वह यह है–''ईश्वर प्रत्येक घटना के घटित होने की आज्ञा देता है जिसमें कर्ता की इच्छा भी शामिल होती है, और ऐसे निर्णायक निश्चय से आज्ञा देता है जिससे स्पष्ट हो जावे कि बिना किसी किन्तु परन्तु के घटनायें उसके निर्णीतव्य में सम्मिलित हैं।''

(8) जोनाथन इडवार्ड– इडवार्ड का कहना है कि ''संसार का सब कुछ पूर्ण रीति से अनादि काल से ईश्वर के ज्ञान में है। इसलिये उसके (जगत्–सम्बन्धी) आकार प्रकार और उद्देश्य ऐसी चीजें नहीं हैं, जो नई बनी हों या जिनकी बुनियाद किसी नये ज्ञान पर अवलम्बित हो, बल्कि सभी नित्य बने रहने वाले उद्देश्य के लिये हैं।'' यदि सब कुछ इडवार्ड के मतानुसार नियत है तो फिर ईश्वर के त्रिकालज्ञता के साथ मनुष्य के कर्म–स्वातन्त्र्य की संगति लगाने का प्रश्न ही बाकी नहीं रहता।

(9) मारकस डाड प्रोफेसर स्काटलेंड– जोनाथन इडवार्ड के मत पर विचार करते हुए डाड ने लिखा है–''इस प्रकार से यदि ईश्वर इस सब (जगत्) का असली कारण है तो जगत् के लिये कह देना पड़ेगा कि वह स्वयं ईश्वर का विकसित रूपमात्र है, न कोई जगत् की उत्पत्ति बाकी रहती है और न किसी अन्य (व्यक्ति) की इच्छा, ईश्वरेच्छा के सिवा बाकी रहती है जिसके अनुकूल कोई कर्म हुआ हो।'' लोजे ने डाड कहता है कि ठीक कहा है– ''घटनाओं के वास्तविक रूप में घटित होने से कोई नई चीज प्रकट होनी चाहिये जो पहले नहीं थी; और यह इतिहास जगत् के नियमबद्धता के साथ उत्पन्न होने के वर्णन के साथ कुछ और भी होना चाहिये।'' डाड ने लोजे के इस मत के सम्बन्ध में लिखा है कि ''यह

मतालिवा ऐसा है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, इस मतालिवे के पुरा करने से उपेक्षा की दशा में जगत् न केवल विचार के अयोग्य और व्याघात दोषपूर्ण होगा बल्कि निरर्थक और अविश्वसनीय भी ठहरेगा।''

(11) ऋषि दयानन्द– ईश्वर की त्रिकालदर्शिता के सम्बन्ध में निम्न प्रश्नोत्तर ऋषि दयानन्द का क्या मत था? इस पर प्रकाश डालते हैं–

प्रश्न– परमेश्वर त्रिकालदर्शी है इससे भविष्यत की बातें जानता है, वह जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा, इससे जीव स्वतंत्र नहीं।

उत्तर– ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना ठीक नहीं, क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल और न होके होवे, वह भविष्यतकाल कहाता है। क्या ईश्वर का कोई ज्ञान होके नहीं रहता अथवा न होके होता है? कदापि नहीं। ईश्वर का ज्ञान, सदा एकरस, अखंडित वर्तमान रहता है। भूत भविष्यत, जीवों के लिये है। हां! जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। जैसा स्वतंत्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है। और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है। अर्थात् भूत, भविष्यत, वर्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतंत्र और जीव किंचित् वर्तमान और कर्म करने में स्वतंत्र है।

परिणाम– ईश्वर की त्रिकालज्ञता का विषय अज्ञात काल से विवादास्पद चला आ रहा है। विद्वानों में इस विषय के सम्बन्ध में कितना मतभेद है उसका दिग्दर्शन उपर्युक्त सम्मतियों से होता है। इस गहन प्रश्न का सर्वश्रेष्ठ समाधान वह सकता है जिससे ईश्वर की सर्वज्ञता और जीव के कर्म करने की स्वतंत्रता में बाधा न पहुंचे। हम वही समाधान पाठकों के सन्मुख रखना चाहते हैं–कोई भी कर्म जब प्रारम्भ किया जाता है तो सब से पहले उसका संकल्प मन में उत्पन्न हुआ करता है, वही संकल्प, वाणी द्वारा प्रकट किया जाता है और उसके बाद आचरण में आ जाया करता है। तो कर्म का भाव (सत्ता) संकल्प से प्रारम्भ होता है उससे पहले उस कर्म का अभाव था। ऐसी दशा में ईश्वर को अपनी सर्वज्ञता अथवा त्रिकालज्ञता से क्या जानना चाहिये? जब से कर्म का भाव है, तब से भाव और जब तक कर्म का अभाव की दशा में वह (ईश्वर) उसे भाव जानता है। तो उसका ज्ञान अयथार्थ होगा और वह मिथ्याज्ञानी ठहरेगा। इस प्रकार का विचार करने से मनुष्य के कर्मस्वातंत्र्य और ईश्वर की सर्वज्ञता में बाधा नहीं पहुंचती। यहां एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ईश्वर का कर्म की सत्ता का ज्ञान ऐसा नहीं कि कर्म करने के बाद होता हो किन्तु उसके संकल्प के शुरू होते ही ज्ञान होना प्रारम्भ हो जाता है और कर्म करते समय तो उसे (ईश्वर को) पूरा ज्ञान ही कर्म की सत्ता का होता है इसीलिये यह बात कही जाती है कि "जैसा स्वतंत्रता से मनुष्य करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से, ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा ही जीव करता है।'' इसका मतलब यह है कि ईश्वर का कर्म ज्ञान और जीव का कर्माचरण इन दोनों में कोई पहले और कोई पीछे नहीं होता, अपितु दोनों साथ–साथ होते हैं और इसी से न ईश्वर की सर्वज्ञता में बाधा पहुंचती है न मनुष्य के कर्म–स्वातंत्र्य में। ❁

गुरुकुल महत्त्वशतकम्

लेखकः महेन्द्रकुमार शास्त्री

शिवं नत्वा पूर्वं बहुसुगुणयुक्तां च जननीम्,
धरण्यै मात्रे वै विविधनिधिराष्ट्राय च नमः।
नमस्ते भूयो नः खलु गुरुजनेभ्यश्च सततम्,
प्रणामो देवेभ्यश्च सुविनयपूर्णो भवतु मे॥ 1॥

भावार्थ– सर्वप्रथम कल्याणकारी प्रभु और गुणों की खान जन्मदात्री मां को नमस्कार करके भूतधात्री जन्मभूमि और धनों के भण्डार देश को मेरा नमन। फिर गुरुजनों को नमस्ते एवं सभी देवताओं को मेरा विनम्र प्रणाम होवे॥ 1॥

इदं काव्यं कृत्वा गुरुकुलजनानां गुणयुतम्,
प्रदत्तं तेभ्यो वै गुरूकुलमहत्त्वं खलु मया।
सनिष्ठं पाठेनास्य भवतु सुमेधा गुणवती,
महेन्द्रस्येहेच्छा पठतु किल चेदं बुधजनः॥ 2॥

भावार्थ– मैंने गुरुकुलवासियों के गुणयुक्त "गुरुकुल महत्त्व" काव्य की रचना करके कुलवासियों को समर्पित कर दिया। इस सन्दर्भ में 'महेन्द्रकुमार' की केवल यह इच्छा है कि बुधजन इसको अवश्य पढ़ें॥ 2॥

वृक्षाणामारामे सुरभिभरिता यत्र धरणी,
सुमंत्राणां घोषैर्बहुमुखरिताभूच्चहुदिशाः।
ऋषीणामार्य्याणां चरितचरणैःपूतबसुधा,
शुभं भात्येवं वै गुरुकुलगणैर्नः गुरुकुलम्॥ 3॥

भावार्थ– जहां वृक्षों के बाग में पृथ्वी सुगन्ध से भरपूर हैं, मंत्रों के उच्चारण से चारों दिशायें मुखरित हो रही है। श्रेष्ठ ऋषियों के चरित्रों से और चरणों से धरती पवित्र है। गुरुजनों के गुणों से हमारा शुभ गुरुकुल शोभायमान हो रहा है॥ 3॥

जलैः कृत्वा स्नानं निखिलकुलवृन्दैः प्रतिदिनम्,
हुतं हुत्वा प्रातः ऋषिमुनिजनैर्भक्तिविहिता।
नमस्ते देवेभ्यः खलु सविधि नित्यं नु गदिता,
गुरोराशीर्वादैः फलति भुवि तन्नः गुरुकुलम्॥ 4॥

भावार्थ– प्रतिदिन प्रातःकाल ऋषिमुनि कुलवासियों ने स्नान करके तथा हवन करके भक्ति की। फिर विधिपूर्वक देवताओं को नमस्ते की। अतः वह हमारा गुरुकुल धरती पर गुरुजनों के आशीर्वाद

से फलता-फूलता है॥ 4॥

सदा प्राणायामैः प्रभुनियतभक्तैर्वटुवरैः,
महायज्ञे निष्ठैर्यमनियमनग्नैस्सुखयुतंः।
समाधौ लग्नैः र्वे विगतभवक्लेशैश्च मुनिभिः,
सदा शुद्धं सिद्धं सफलचरितं नो गुरुकुलम्॥ 5॥

भावार्थ– प्राणायामों से उद्भूत भक्ति से ब्रह्मचारिय, महायाज्ञिक, यम-नियमों के पालन से सुखयुक्त और सांसारिक दुःखों से रहित मुनिजनों से हमारा गुरुकुल साधनायुक्त तथा पवित्र एवं सफल जीवन वाला है॥ 5॥

महारण्ये रम्ये सुजनयति मेधां गुरुवरः,
महाशैले शीलं खलु भवति विप्रस्य सुधिया।
सरस्वत्यां नद्यां तरितबहुदुःखाद् वटुजनः,
जगत्यामित्थं भाति सकलमिदं नो गुरुकुलम्॥ 6॥

भावार्थ– सुन्दर वन में गुरुमहाराज बुद्धि को प्रबुद्ध करते हैं। बड़े-बड़े पर्वतों पर पण्डित जी की बुद्धि से शिष्टाचार पनपता है। विद्यारूपी सरिता में तरकर शिष्यवर्ग दुःखों से पार हो जाते हैं। इस प्रकार संसार में गुरुकुल शोभा पाता है॥ 6॥

स्वरधास्वाहाधारा मनभुवि सुवर्षत्यनुदिनम्,
सरस्वत्यां स्नानं भवति बहुपूतं शुभमनः।
मनो नूनं ज्ञानैर्बहुविधिविज्ञानैश्च भरितम्,
शिवं चाभात्येवं मनुजगणचित्ते गुरुकुलम्॥ 7॥

भावार्थ– मधुर वाणी और अमृत की मनरूपी वसुधा पर प्रतिदिन वर्षा होती है। ज्ञानापगा में स्नान होने पर शुभ मन पवित्र हो जाता है। सबके मन ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार हमारा शिव संकल्प वाला गुरुकुल मनुष्यों के मन में विराजता है॥ 7॥

इदं स्थानं व्याघ्रैर्बहुलमपि द्वेषादिरहितम्,
नदीनां तीरे वै सह सलिलपानं मृगकुलैः।
अहो ! रे ! हिंस्रैश्चापि कथमिव चैकत्र रमणम्,
महत्त्वं साश्चर्यं भवति खलु नूनं गुरुकुलम्॥ 8॥

भावार्थ– यह गुरुकुल का स्थान व्याघ्रादि हिंसक प्राणियों से युक्त है। फिर भी यहां द्वेष नहीं है। सारे ही वन्य जीव नदियों के किनारों पर एक साथ जल पीते हैं। भक्ष्य-भक्षक पशु किस प्रकार एक स्थान पर विचरते हैं। निश्चय से गुरुकुल का चकित करने वाला महत्त्व है॥ 8॥

परस्परालापेषु ननु मधुमिष्टं मधुवचः,
सुभाग्यं छात्राणां श्रुतिपथगता वै गुरुगिरः।
विनम्रेभ्य एभ्यो भवति बहुविद्यागुणधनम्,
महानन्द नित्यं च भुवि सततं नो गुरुकुलम्।। 9।।

भावार्थ– गुरुकुलवासी सभी जन वार्तालाप के समय मीठा बोलते हैं। छात्रों का सौभाग्य है कि उनके कानों में गुरुओं की वाणी सुनाई देती रहती है। विनीत विद्यार्थियों को बहुत विद्यारूप धन उपलब्ध होता है। इस प्रकार गुरुकुल का वातावरण आनन्दयुक्त रहता है।। 9।।

श्रुतीनां शास्त्राणां सकलविधिभिर्यत्र पठनम्,
गुणानामाधानं मम गुरुकुले सन्निधिगुरोः।
निसर्गाद्वै पूतं चरितमपि तेषां भवति वै,
वरं भव्यं स्थानं परमसुखदं नो गुरुकुलम्।। 10।।

भावार्थ– गुरुकुल के पुनीत वातावरण में सदैव वेद और शास्त्रों का अध्ययन होता है। गुरुजनों के सान्निध्य से विद्यार्थियों के मनों में गुणों का आधान होता है। इसी कारण उनका जीवन स्वभाव से ही पवित्र रहता है। अतः हमारा गुरुकुल सुख देने वाला और बहुत सुख का स्थान है।। 10।।

अहो? वात्सल्यं न स्मरति कुलवासी स्वजननीम्,
सुसौजन्यादित्थं स्मरति न कदापि स्वपितरम्।
रे ! भोज्यान्नं न्यूनं स्मरति न कदापि स्वभवनम्,
सदैवानन्दाद्वै च सफलफलं नो गुरुकुलम्।। 11।।

भावार्थ– आश्चर्य की बात है कि यहां मिला प्यार कुलवासियों को माता की याद भी भुला देता है। मां की याद नहीं आती। सुजनता के व्यवहार से पिता भी याद नहीं आते। सात्त्विक भोजन घर की याद नहीं आने देता। हमारा गुरुकुल आनन्दयुक्त सफल परिणाम वाला है।। 11।।

ममाचार्य्याः नित्यं हि निखिलफलैः कल्पतरवः,
वटूनामालोकं जनयति सहर्षं गुरुगणः।
श्रुतिं सम्यक्छ्रुत्वा जगति ननु छात्राः प्रमुदिताः,
नमस्ते नूनं यत्र सुभवति तन्नो गुरुकुलम्।। 12।।

भावार्थ– गुरुकुलों के आचार्य शिष्यों की कामनाओं के पूर्ण करने वाले कल्पतरु हैं। गुरुजन भी छात्रों के मनों में प्रकाश और हर्ष को जन्म देते हैं। उनके मुखारविन्द से वेद ज्ञान का श्रवण कर छात्र प्रमुदित हो उठते हैं। गुरुकुल नमस्ते के व्यवहार से आदर होता है।। 12।।

गृहीतः आचार्य्याच्छ्रुतिपठनधर्मश्च वटुभिः,
स्मृतीनामार्षाणां श्रुतिपथजुषामत्र पठनम्।

नितान्त पुण्यानामतिशयतया युक्तसुजनाः,
उपाध्यछायैश्छात्रैर्बहु शिवशुभ नो गुरुकुलम्।। 13।।

भावार्थ– आचार्य जी से शिष्यों ने अध्ययन रूप धर्म को ग्रहण किया है। वेदानुकूल स्मृतियों का गुरुकुल में पठन होता है। यहां पर सब ही पुण्यों के अति बाहुल्य से अच्छे मनुष्य रहते हैं। उपाध्याय और छात्रों से गुरुकुल बहुत कल्याण और पवित्रता से भरपूर है॥ 13॥

महाविद्यो विद्वान् सकलगुणवन्द्यो गुरुवर,
महाज्ञानी ध्यानी प्रतिदिनसमाधौ धृतमनाः।
तस्माद्वेद्यं सत्त्वं ऋतमिह तज्ज्ञानमनघम्,
सुभाग्यात्लब्धाहं गुरुकुलमिदं वै शुभपदम्।। 14।।

भावार्थ– अनेक विद्याओं के ज्ञाता महाविद्वान् गुणों के आधार परम श्रेष्ठ गुरु महोदय ज्ञाननिधि नित्यप्रति समाधिलीन योगी हैं। उनके सौभाग्य से विद्या के परमपद कल्याणप्रद गुरुकुल को प्राप्त करके निष्पाप अपरिवर्तित ज्ञातव्य सत्त्व को जाना जाता है॥ 14॥

नितान्तं छात्राणां सुविदिमना ये हि गुरवः,
विज्ञानार्थं तेषां कुलभुवि यतन्ते प्रतिदिनम्।
सदाचाराच्छात्रा विहितनियमा धर्मविषये,
प्रवर्धन्ते विद्यासुबहुपटवस्ते हि वटवः।। 15।।

भावार्थ– विद्यार्थियों के मनों से भलीभांति परिचित अध्यापक गण प्रतिदिन छात्रों के विविध ज्ञान की वृद्धि के लिए कुलपरिधि में निरन्तर प्रयत्न करते हैं। विद्यार्थी भी सदाचार से धर्म में संलग्न विद्याओं में प्रवीण होकर बहुविध आगे बढ़ रहे हैं॥ 15॥

यदा सत्यं ज्ञानं ननु विविधसूरैरधिगतम्,
तदोद्भूता श्रद्धा यम–नियम–निष्ठा बहुविधा।
इहाचार्याणां वै खलु भवति मेधा फलवती,
भ्रमान्मुक्तैश्शिष्यै पठितबहुविद्या सुखकरी।। 16।।

भावार्थ– गुरुकुल में विद्यार्थियों को जब अनेक विद्वानों से सत्य ज्ञान की उपलब्धि हुई तो उनके मन में यम–नियम में श्रद्धा और निष्ठा आविर्भूत हो गई। आचार्य महानुभावों की बुद्धि सफल हुइ है और छात्र सन्देहों से दूर होकर सुखकारी विद्या में संलग्न हो गए॥ 16॥

❀❀❀

दे खुदा की राह पर

लेखकः ज्योति बाबू

वह एक गरीब भिखारी था। मांग–2 कर पेट भरना ही उसका पेशा था। शहर का कोई भी कोना, कोई भी गली, उसके पैरों से अपरिचित न थी। वास्तव में वह बड़ा तेज था। कोई भी किसी प्रकार का मुसाफिर उससे न बचता था, सब से वह कुछ न कुछ ऐंठ ही लेता और दूसरे भिखारी मुँह टापते रह जाते। बात यह थी कि उसका चेहरा बड़ा सुन्दर और भोला था। उसके चेहरे पर नूर बरसता था। उसमें दूसरे को आकर्षित करने की एक शक्ति थी, लोग स्वभावतः उसकी ओर खिंच जाते थे, मानो वह लोहे के लिये चुम्बक हो। कोई नया यात्री उसे कभी भिखारी न कहता। जब वह दे खुदा की राह पर...... कह हाथ फैलाता तो लोग मजाक समझ हंस देते, किन्तु फिर सत्य बात समझ शरमा–शरमी कुछ दे ही जाते थे। उसके पास लोगों की भीड़ लगी रहती थी। सृष्टिकर्त्ता ने जैसा उसे रूप दिया था, उसी के अनुसार आवाज भी दी थी। वह हुनर रखते भी न मालूम भीख क्यों मांगात था। कभी–2 वह कहा भी करता था। मेरी सात पुश्त में किसी ने भीख नहीं मांगी। अब भाग्य से मुझे भीख मांगनी पड़ती है, परन्तु इस रहस्य को कौन समझ सकता था, उसके भीख मांगने के रहस्य को तो मैं आज समझ सका हूँ।

उस समय दोपहर को और उस ग्रीष्म की दोपहर को जब कि घर से कदम निकालना कठिन होता है, सोते–सोते चौंक कर सुना करता था, कि वह सड़क की तपती धूप में खड़ा–2 चिल्ला रहा है–"दे खुदा की राह पर"। मैं सोचता था, यह कोई सिद्ध है जो इसे धूप नहीं लगती। हाँ वह सिद्ध ही तो था।

पहले–पहल जब मैं मुरादाबाद से पढ़ने को देहरे गया। वह मुझे करनपुर की चौमुहानी पर मिला। उससे पहले मैं फकीरों से घृणा करता था, किन्तु जब उसने कहा, "दे खुदा की राह पर" तब मैं उस खुदा की राह पर मांगने वाले से घृणा न कर सका और चट से चार आने उसके हाथ पर रखते ही बना। मुझे मालूम हुआ, मानो उसके हाथ में जाने से मेरी चवन्नी सार्थक हो गई। बात यह थी कि उसके ललित स्वर और रूप पर मैं न्यौछावर हो गया था। चवन्नी लेकर उसने मुझे दूसरे भिखारियों की तरह आशीर्वाद नहीं दिया, वरन् वह एक विचित्र भाव से मुस्कराया। वास्तव में उसकी उस गम्भीर हंसी में, रहस्यमयी मुस्कराहट में जादू था। सोचता हूँ, उसका भाव रहा होगा, बाबूजी तुमने यह चवन्नी मुझे नहीं, देश को दी है। पर जब तक मैं उससे कुछ बोलूँ, या वही मुझ से कुछ कहे, एक अन्य राहगीर की ओर देख कर वह चिल्ला उठा, "दे खुदा की राह पर"। उसके पश्चात् मैं चला आया। फिर वह भी मुझे एक सप्ताह तक न मिला, शायद वह कहीं चला गया था और उसके बिना चौराहा निस्तब्ध रहता था। मेरी तो उस रास्ते से निकलने की इच्छा ही न होती थी। लोग भी उदास दीख पड़ते थे, मानो उनका कोई रत्न खो गया हो। मैं सोचता, कहीं वह बीमार तो नहीं, किन्तु जब एक सप्ताह बाद फिर उसकी आवाज सुनाई दी तो हृदय प्रसन्न हो गया, सड़क गुलजार हुई। एक दिन जब मैं मैच के लिये मेरठ जा रहा था, वह मुझे अकेला मिला। मैं उसे पैसे देने लगा, उसने कहा, "बाबू खुदा की राह पर देना–लेना एक बार ही होता है, बार–बार नहीं, "मैं उसके इस उत्तर से बड़ा ही चकित हुआ, और उसी दिन से मेरी उसके प्रति श्रद्धा सी हो गई। उसके शब्दों में भी रहस्य था फिर तो रोज ही का मिलना होने लगा। उसकी विद्वत्ता पूर्ण बातें

सुन–2 मैं उसका आदर करने लगा।

उसके विषय में लोगों की विचित्र, किन्तु भाँति–2 की धारणायें थीं। कोई उसे ईश्वर का फरिश्ता कहता था, कोई उसे जासूस कहता था और कोई उसे क्रान्तिकारी की श्रेणी में रखता था। मैं विमूढ़ सा हो रहा था, मेरी बुद्धि कुछ भी निश्चित न कर पाती थी, पर उसके जीवन में कुछ रहस्य अवश्य है, यह निश्चय था और इससे मैं भी इन्कार न कर पाता। वह कोई भी क्यों न हो, किन्तु भीख मांगने का क्या उद्देश्य था, सो न समझ सका था। वह जब भी मांगता था–"दे खुदा की राह पर" ही। इसी से लोगों ने उसका नाम भी दे खुदा की राह पर ही रख लिया था। बच्चे तक उसे देख खुदा की राह पर कह कर चिल्ला उठते और वह भी उनके शब्दों का स्वागत कर हँस कर चिल्ला उठता–"दे खुदा की राह पर"। बस उसकी प्रतिदिन की यही दिनचर्या थी। वास्तव में वह भिखारी के वेश में किसी खास व्यक्ति से मिलने के लिये किसी खास इशारे की तलाश में रहता और खुदा की राह पर खड़ा हो दल का सूत्र–संचालन किया करता, यह अब जाना हूँ तब नहीं।

हां, कभी–2 संन्ध्या के सुहावने समय में वह गाया करता–'प्राण ही क्यों दे न दूं मैं, अब न बँधता धीर है।' और गाते–2 मस्त होकर झूमने और फिर रोने लगता था। उसकी यह अवस्था देख कभी–2 उसे दुखियारा, बेचारा कहते थे। किन्तु कौन जाने वह क्या था, वह था आजादी का दीवाना। परन्तु उसके इस गाने का तात्पर्य उस समय मैं कुछ न समझता था। सचमुच उसके इन गिने हुए शब्दों में उसके हृदय के भाव छिपे रहते थे। उसकी आयु 22, 23 वर्ष के लगभग थी। मैं देहरे दो वर्ष रहा, जिनमें एक वर्ष तो मैं उसे बराबर देहरे की गली और सड़कों पर घूमते देखा किन्तु दूसरे वर्ष बहुत खोजने पर भी मैं उसका पता न पा सका। इसके बाद इण्टरमीडिएट पास कर आगे अध्ययन के लिये मैं बनारस चला गया और इसके बाद धीरे–2 उसे भूलने लगा। शनैः–2 दो वर्ष और व्यतीत हो गये। इन्हीं दिनों पूज्य पिताजी की मृत्यु के कारण मुझे मुरादाबाद लौटना पड़ा। रेल में मुझे फिर उसकी याद आई। कारण, एक युवक ठीक उसी के रंग–ढंग, सूरत–शक्ल का देखा। मुझे शक हुआ कि यही "दे खुदा की राह पर" तो नहीं है? पर एक सभ्य व्यक्ति पर भिखारी होने का शक क्योंकर सकता था और उधर वह मुझे बिलकुल अपरिचित के समान देख रहा था। कुछ देर के बाद जब मेरा हृदय नहीं माना तो मैंने सकुचाते हुए पूछा–'मिस्टर आप कहाँ जा रहे हैं?

उसने खुले हुए दिल से कहा–'अयोध्या जी दर्शन को जा रहा हूँ।'

'आप कहाँ से आ रहे हैं? मैंने पूछा।

'इस समय तो मैं कलकत्ते से आ रहा हूँ, वैसे मैं दक्षिण का हूँ, उसने सरल स्वर में कहा।

'क्षमा कीजिये, मुझे आप मेरे एक परिचित व्यक्ति के समान जान पड़े, इसलिये मैंने आपको कष्ट दिया।'

'कष्ट तो कुछ नहीं हुआ तब क्षमा काहे की।' मृदु मुस्कराहट से वह बोला। 'वह आपके परिचित साहब कहाँ रहते हैं।'

'यही तो नहीं जानता।'

'बड़ा आश्चर्य है, परिचय है परन्तु निवास का पता नहीं, तब क्या वे खो गये हैं? विनोद से उसने कहा।

'हां, कुछ ऐसा ही समझिये' मैंने झेंप कर उत्तर दिया।

'क्या खूब' और वह जोर से ठठा कर हंस उठा।

मैं चौंक पड़ा, आवाज तो वही थी, फिर भी मैं यह सिद्ध न कर सकता था। सन्देह का भी कोई कारण

न था, वह ही परिचित शीघ्र हो गया। स्वभाव सरल और हंसमुख था, अयोध्या तक अच्छी गुजरी, अयोध्या उतरते समय उसने पूछा, 'यदि कभी मेरे से मिलते-जुलते आपके परिचित मुझे मिल जायें तो मैं उन्हें क्या सन्देश दूँ।'

'यह तो मैं भी नहीं जानता, केवल मिल कर जानना चाहता हूँ वे कौन हैं? मैंने मुस्करा कहा।

'बस इतना ही शायद कभी जान लें। बड़े 2 शास्त्रकारों का कथन है किसी विषय में जल्दी नहीं करनी चाहिये-अति सर्वत्र वर्जयेत्'-और हंसकर उन्होंने हाथ मिलाया। मैंने भी स्मित कर उन्हें विदा दी। गजब का विनोदी पाया इस अपरिचित को, उसके उन हंसी के शब्दों का अर्थ और "दे खुदा की राह पर" के विषय में सोचता 2 सो गया।

मेरी पढ़ाई समाप्त हो गई थी, मैं सरकारी विभाग के ऊँचे ओहदे पर पहुँच चुका था। यह उन दिनों की बात है जब षडयन्त्रों का भण्डाभोड़ हो रहा था। सैकड़ों अपराधी और निरपराधी जेल में भरे जा रहे थे, नित्य-प्रति मुझे बीसियों मुकदमे सुनने पड़ते थे। गवाहियों और विपक्षियों के मारे मेरी नाक में दम थी। आज मुझे पता चला, दौर जज बनने में कितनी शामत है।

उन्हीं दिनों एक नये षडयन्त्र का भण्डाभोड़ हो मुकदमा मेरे इजलास में आया। यह एक हैड कान्स्टेबिल की हत्या का अभियोग था। बात यह थी कि पुलिस की दृष्टि से तो नहीं किन्तु जनता की दृष्टि से यह सरकार का पृष्ठपोषक बड़ा निर्दयी था। जरा 2 से अपराधों पर अपने मातहतों पर हण्टर चलाना आदि तो उसके क्रोधी स्वभाव का ही परिचय देते थे। वास्तव में वह बड़ा ही कठोर था। तनिक भी उसकी इच्छा के प्रतिकूल चलना मानो अपने आपको भट्टी में झोंकना था। झूठे मुकदमे बनाकर विपक्षियों को दबाना, निर्दोषी को अपने स्वार्थ के लिये कुचलना, रिश्वत लेना आदि उसके स्वभाव में था। कई बार गोली और लाठी चार्ज में वह अग्रणी रहा था। अतः किसी स्वाभिमानी, असहनशील, क्रोधी द्वारा उसकी हत्या हुई थी, उसी का यह अभियोग था।

मुकदमा आरम्भ हुआ। हैड कान्स्टेबिल के वास्तविक हत्यारे के साथ चन्द्रकेतु नाम का किसी जमींदार का पुत्र भी सम्मिलित था, जो कई वर्षों से लापता था। और पुलिस का कहना था कि उसने हमें बहुत ही तंग किया है। पुलिस का कहना था कि दल के प्रधान व्यक्तियों में ही उसकी गणना है। आज तक पुलिस उसे पकड़ न पाई थी। जब वह अभियुक्त मेरे सामने लाया गया, मैंने देखा वह था वही मेरा प्यारा "दे खुदा की राह पर"। वही था रेल वाला युवक, हाय ! उसने मेरी ओर देखा और मुस्करा दिया। मैंने उसकी ओर देखा और सिर झुका लिया। मुकदमा चला, वह मातृभूमि का पुजारी, मेरा प्यारा, दे खुदा की राह पर...... खूनी था। मैंने उसको बचाना चाहा पर बचा न सका, ज्यूरियों की राय के विरुद्ध जाना सम्भव न था। उसे फाँसी का हुक्म हुआ। उसने सजा सुनी और उसी मधुर मुस्कराहट से मुस्करा दिया। मैंने सजा सुनाई किन्तु सुनाते समय मैं रो दिया। कचहरी समाप्त हुई, लम्बे मुकदमे का यही फैसला था। कोर्ट से जाते 2 उसने कहा- ज्योति बाबू! ईश्वर तुम्हें खुशहाल रक्खे, पर याद रखना, मेरे कृपालु ! "खुदा के नाम पर" अथवा दूसरे अल्फाजों में "जननी जन्म भूमि के नाम पर" एक ही बार दिया जाता है और समझे, वह क्या, सिर।'

मुझे चक्कर आने लगा, आज से कई वर्ष पहले की बात याद आई। एक दिन पैसे देते हुए इस वीर ने यही तो कहा था कि बाबू खुदा के नाम....... एक बार ही दिया और लिया जाता है। आज उसके भावों का उसके शब्दों का अर्थ मेरी समझ में आया।

मैंने उसे बचाने की एक बार फिर कोशिश की। फांसी से पहले उसे सरकारी गवाह बना मुकदमा फिर

चलाने की कोशिश की, किन्तु जब मैंने उससे मिल कर उसे कहा–'भाई चन्द्रकेतु ! देहरे में मैंने जब से तुम्हें देखा, तुमने मुझे तब ही से अपनी ओर खींच लिया और मैं तुम्हें तब ही से अपना प्यारा भाई समझने लगा और आज अपने उसी भाई को फांसी के तख्ते पर लटकाने का हुक्म भी मुझे ही स्वयं देना पड़ा है और तुम्हारी इस अवस्था पर मेरा हृदय रो उठा है।

'सब व्यर्थ है, जननी–भूमि की आजादी के लिये जीवन का मूल्य ही क्या.....? जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' उसने हंसते हुए गम्भीर स्वर में कहा। उसकी हंसी देख मैं अवाक् रह गया। मृत्यु की दाढ़ों में भी हंसी? यही तो स्थितप्रज्ञ के लक्षण हैं। तब क्या वह भी स्थितप्रज्ञ ही है? हां स्थितप्रज्ञ कहना ही उचित है।

'बचने का यत्न करना मूर्खता नहीं, कर्तव्य है, मानव–जन्म बार–बार नहीं आता भाई।' मैंने उसे समझाते हुए कहा।

'मानता हूँ' जब मृत्यु का फंदा मैंने स्वयं ही अपने हाथ से तैयार किया है तब उससे बच ही कैसे सकता हूँ।' उसने लापरवाही से कहा।

'माफी तथा सरकारी गवाह.....' वाक्य पूर्ण होने से पहले ही वह वीर तेजी से बोला। 'बस ज्योति बाबू अधिक कुछ न कहना, जीवन बहुमूल्य नहीं, मनुष्य का सिद्धान्त ही बहुमूल्य है। अपने एक तुच्छ जीवन के लिये अनेकों का बलिदान दूँ यही कहना है न आपका। आप मुझे गद्दारी सिखाने आये हैं, अपने भाइयों के प्रति, अपने ही देश के प्रति। हाय अभागा देश यदि उसमें गद्दारी न होती, भाई–भाईयों में स्वार्थ–भावना न होती, तो भारतभूमि शत्रुओं से पददलित ही क्यों हुई होती। परतन्त्र ही क्यों रहती। किन्तु माया ने स्वार्थ का आवरण डाल रक्खा है देश का अभाग्य। भाई ने भाई को ही सदा छला है। कौरव–पाण्डव भाई भाई थे, पृथ्वीराज और जयचन्द भी भाई 2 थे और आज तुम भी देश के नाते भाई हो और भाई के प्रति भाई को ही छल सिखाने आये हो। जानता हूँ प्रेम का यह ढोंग तुम्हारी छलना है, शायद देश के दुश्मनों से वाह–वाही लूटना चाहते हो। तुम मेरे शत्रु हो, ज्योति बाबू ! देहरे में जब मैंने तुम्हें देखा तब तुम्हें अपने कार्यसाधन के अनुरूप समझा था किन्तु मेरे मनो–देवता ने भाव प्रकट न करने दिये। अच्छा ही हुआ जो मैं चुप रह गया अन्यथा आज..... खैर। आप समझते हैं पुलिस मुझे अपनी होशियारी से पकड़ सकी है, यह आपकी भूल है। मैंने जान बूझ कर अपने को पकड़ने दिया है। इससे जनता समझे कि अत्याचार का विरोध जरूरी है और सरकार भी आगे सोच कर अत्याचार का कदम उठाये। यदि मेरे आत्म–बलिदान से जनता में कुछ भी जोश पैदा हो सका तो मेरी मृत्यु भी सार्थक होगी, न्यायाधीश महोदय!'

मैं सिहर उठा। उसका कहना बिलकुल सच था। फिर मैंने अनेकों प्रश्न करे। परन्तु एक भी उत्तर उसने मुझे नहीं दिया। उसके तेज के सम्मुख मैं नत–मस्तक हो गया। मेरे हाथ स्वयं उसके पैरों की ओर बढ़ गये, किन्तु उसने वैसा मुझे करने न दिया। बीच ही में रोक लिया। बोला–'यदि आपके हृदय में मैं कुछ भी स्वार्थ त्याग का बीज बो सका होऊँगा, ज्योति बाबू ! तो सचमुच मेरी मृत्यु भी धन्य होगी।'

''तुम्हारा जीना और मरना दोनों ही धन्य हैं। भाई मेरे ! मुझे क्षमा करो, आगे तुम्हारे ही पथ पर चलने का प्रयत्न करूँगा।'' कहते हुए मैं जेल की उस कोठरी से बाहर निकला, जो अनेकों तीर्थों से भी पवित्र तीर्थ बन गई।

उसके कुछ दिनों बाद वह फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया।

उसके यह शब्द, कि भाई ही भाई का शत्रु है, भी मेरे कानों में गूंजा करते हैं। और यही देश और जाति का अभाग्य है, यही मानवता का प्रबल शत्रु है, गांधी के रामराज्य का स्वप्न इसी ने नष्ट कर दिया है। ❁

प्रारभ्यते खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्यविघ्न विहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि हन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।।

नीच पुरुष तो विघ्नों के भय से किसी काम को आरम्भ नहीं करते। मध्यम श्रेणी के मनुष्य काम को आरम्भ कर देते हैं परन्तु जिस समय कोई विघ्न आ पड़ता है तो तुरन्त उस कार्य को छोड़ अलग हो जाते हैं। उत्तम पुरुष विघ्न के बार-बार आने पर भी कभी आरम्भ किये कार्य को लक्ष्य तक पहुंचाये बिना विराम नहीं देते हैं। संसार का सुधार ऐसे ही पुरुष कर सकते हैं। ऐसे पुरुष संसार को कुमार्ग से हटाने के लिए अपना जीवन भी समर्पित कर देते हैं। यद्यपि अज्ञानी लोग प्रमादी और स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ में ऐसे व्यक्ति को बाधक जान उसका जीवन भी संकट में डाल देते हैं। कोई उनको नास्तिक, गुमराह और धिक्कार योग्य कहता है। कोई अपनी विद्या को इस असत्य मार्ग को सत्य कर दिखाने में लगाता है और रात दिन इस प्रकार के तरीके खोजता है जिससे कि सच्चे सुधारक के उद्योग से संसार लाभ न उठा सके।

इस प्रकार समस्त संसार उस सच्चे सुधारक के विरोध में अपने सम्पूर्ण प्रयत्न को लगाता है लेकिन इतना विरोध होने पर उसके हृदय में जरा भी भय नहीं होता। अपमान पर अपमान होने पर भी सच्चे सुधारक के हृदय में शोक व्याप्त नहीं होता है। जितना प्रबल भाव से विरोध दिखाई देता है वह उसे उतना ही अपने किये कार्यों का प्रभाव मानकर प्रसन्न होता है। महर्षि दयानन्द जी की तरह वह जान जाता है यद्यपि मेरा विरोध बहुत है परन्तु मेरी सत्यता का लोहा सब मानने लगे हैं ऐसे भाव आते ही उसका उत्साह बढ़ जाता है और वह अपने सुधार के कार्य को और भी तीव्र कर देता है। संसार भले ही उसे हानि पहुंचाये पर संसार को लाभ पहुंचाने का प्रयास करता रहता है। सच्चे सुधारक के रुप में जब स्वामी दयानन्द ने देखा कि समस्त मनुष्य जीवन के उद्देश्य से अनभिज्ञ हो कर कष्ट उठा रहे हैं तथा संसार के धार्मिक उपदेशक स्वार्थवश मनुष्यों को बहकाकर आपस में लड़ा रहे हैं और सत्य से सब अनभिज्ञ होकर केवल पक्षपात एवं हठधर्मी से एक दूसरे का बुरा कहने का बान पकड़ गये हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने घमण्ड में अपने झूठे विचारों को सत्य समझ रहा है तथा दूसरों के सत्य विचारों को भी झूठा बनाने का प्रयत्न कर रहा है। एक ओर लालच व झूठी शिक्षा से समाज का पतन हो रहा है तब स्वामी जी अपने प्रबल आत्म बल से समाज को दिशा दी।

महर्षि दयानन्द जी ने सच्चे सुधारक के रुप में हमारे सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया जिस प्रकार सूर्य की किरण पृथिवी पर से जल खींचती हुई दिखाई नहीं देता सिवाय गर्मी की ऋतु के इसी प्रकार स्वामी दयानन्द का उपदेश भी प्रत्यक्ष कोई काम करता नहीं दिखाई देता। परन्तु विचारपूर्वक दृष्टिपात करें तो पता लगेगा कि स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म को छोड़कर समस्त मनुष्यकृत मतों को जिन्हें बुद्धि से काम लेने में कोई प्रयोजन नहीं है उन्हें जड़ से उखाड़ फेंका है। अतः प्रिय पाठको ! यदि अपने जीवन को सफल करना चाहते हो अपने को देश हितैषी समझते हो तो वे सिद्धान्त जिन्हें आप संसार के लिए हितकारी समझते और संसार में सुख शान्ति लाने का मूल समझते हो उन्हें अपने जीवन में स्वयं अपनाओ उन्हें जीवन में साकार सच्चे हृदय से करो। फिर देखो आपके जीवन में तो आनन्द उत्साह आयेगा ही आप संसार में घोर दुःखों का कम करने में कृतकार्य हो जायेंगे। अन्यथा स्वार्थपरता में लगकर सुधार की बात करके अपने काम सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे तो यह बात पक्की समझना आप अपना अपने परिवार के सर्वनाश का द्वार खोल बैठे। ईश्वर सब को सन्मति दे कि सब सच्चे सुधारक बनें। ❁

सत्य प्रकाशन मथुरा के अनमोल प्रकाशन

शुद्ध रामायण सजिल्द	320.00	वीर नारियां	30.00	रामायण कालीन आदर्श नारियां	15.00
शुद्ध रामायण अजिल्द	250.00	वीर बालिकायें	30.00	महाभारत कालीन आदर्श नारियां	15.00
योग दर्शन	150.00	आदर्श देवियां	30.00	इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ	12.00
शंकर सर्वस्व	120.00	भारत और मूर्ति पूजा	30.00	बाल मनुस्मृति	12.00
मानस पीयूष (रामचरित मानस)	100.00	यज्ञमय जीवन	30.00	ओंकार उपासना	12.00
शुद्ध हनुमच्चरित	90.00	आर्यों की दिनचर्या	30.00	पुराणों के कृष्ण	12.00
शुद्ध कृष्णायण	80.00	चार मित्रों की बातें	20.00	दण्डी जी का जीवन पथ	10.00
शान्ति कथा	80.00	भारतीय संस्कृति के तीन प्रतीक	20.00	नमस्ते ही क्यों	10.00
नित्य कर्म विधि	70.00	मील का पत्थर	20.00	आदर्श पत्नी	10.00
सुमंगली	70.00	भ्रांति दर्शन	20.00	देश विदेश की वीर बालिकाएं	10.00
दो मित्रों की बातें	60.00	शान्ता	20.00	पतिव्रता नारियां	10.00
दो बहिनों की बातें	60.00	संध्या रहस्य	20.00	सती वीरांगनाएं	10.00
वैराग्य दिवाकर	50.00	गीता तत्व दर्शन	20.00	आदर्श माताएं	10.00
वैदिक संध्या विधि	50.00	गृहस्थ जीवन रहस्य	20.00	ब्रजभूमि और कृष्ण	8.00
महर्षि दयानन्द का दार्शनिक चिन्तन	50.00	श्रीमद् भगवत गीता	20.00	सच्चे गुच्छे	8.00
वैदिक स्वर्ग की झांकियाँ	40.00	वैदिक ऋषिकाएं एवं विदुषी नारियां	20.00	भागवत के नमकीन चुटकुले	8.00
चाणक्य नीति	40.00	आदर्श सती नारियां	20.00	मानव तू मानव बन	8.00
महाभारत के प्रेरक प्रसंग	40.00	दयानन्द और विवेकानन्द	15.00	जीजा साले की बातें	5.00
स्वाधीनता की वीरांगनायें	40.00	शुद्ध सत्यनारायण कथा	15.00	सर्प विष उपचार	4.00
महर्षि दयानन्द का निरालापन	35.00	महाभारत के कृष्ण	15.00	सत्यार्थ प्रकाश मेरी दृष्टि में	4.00
वेद प्रभा	30.00	महिला गीतांजलि	15.00		

आवश्यक सूचना

1. पाठकगण वर्ष 2024 के लिये वार्षिक शुल्क 200/- रूपये अविलम्ब भिजवायें तथा पन्द्रह वर्ष की सदस्यता हेतु 2100/- भिजवायें।
2. पत्रिका भेजने की तारीख प्रतिमाह 7 व 14 है, कृपया ध्यान रखें।

बुक-पोस्ट
छपी पुस्तक/पुस्तिका

सेवा में,

....

.... श कार्यालय, ... आर्य प्र ....

मान रोड, नई .... 00 ....

....

.... पिन कोड ....

पत्र व्यवहार का पता :-
व्यवस्थापक - कन्हैयालाल आर्य
सत्य प्रकाशन
डाकघर- गायत्री तपोभूमि, वृन्दावन मार्ग
(आचार्य प्रेमभिक्षु मार्ग), मसानी चौराहे के पास,
मथुरा (उ० प्र०) 281003
मोबा. 9759804182

Yogendra # 9927136600

मुद्रक : स्वामी, प्रकाशक, सम्पादक आचार्य स्वदेश के लिए मित्तल कम्प्यूटर प्रिंटर्स, वृन्दावन रोड, मथुरा में छपकर सत्य प्रकाशन मथुरा से प्रकाशित